गान्धी का दर्शन

संगमलाल पाण्डेय
एम० ए०, डी० लिट०, साहित्याचार्य
प्रोफेसर और अध्यक्ष, दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

दर्शनपीठ, इलाहाबाद
१९८५

प्रकाशक

दर्शनपीठ

१७७ टैगोर टाउन,

इलाहाबाद–२११००२

प्रथम संस्करण : १९५३

द्वितीय संस्करण : १९८५

मुद्रक

शुभचिन्तक प्रेस

२१३ बख्शी खुर्द दारागंज, इलाहाबाद।

द्वितीय संस्करण का आमुख

यह 'गान्धी का दर्शन' का द्वितीय संस्करण है। प्रथम संस्करण १९५७ ई० में गर्ग ब्रदर्स, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। उसे गान्धी के दर्शन की सर्वप्रथम व्याख्या होने का श्रेय प्राप्त है। उसमें इस पुस्तक के बारे मे प्रो० रामनाथ कौल, डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त तथा डा० पी० टी० राजू के विचार और मूल्यांकन प्रकाशित थे। इन विद्वानों ने इस पुस्तक के प्रकाशन का स्वागत किया था और गान्धी के दर्शन की सुसंगत व्याख्या करने के कारण इसकी सस्तुति की थी। आज इनमें से केवल डा० पी० टी० राजू जीवित है और वे भी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में रहते हैं। शेष दो जन ब्रह्मलीन हो गये है। मैं इन तीनों विद्वानों से कभी आनृण्य-लाभ नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि इन्होंने मेरी इस प्रथम मौलिक रचना की मूल्यवत्ता बता करके दर्शन-जगत् मे मुझे खड़ा किया था। मै आजीवन कैसे इन्हे भूल सकता हूं?

प्रस्तुत संस्करण मे इन विद्वानो की मूल्यवान् सम्मतियाँ शामिल नही की गयी है। उनके लिए पाठकगण इसके प्रथम संस्करण को ही देखें। आखिरकार उसका महत्त्व भी अपनी जगह पर है ही।

फिर भारत के दार्शनिक जगत् में मेरे 'गान्धी का दर्शन' की पर्याप्त समीक्षा हुई थी। पूज्य स्वामी करपात्री द्वारा संपादित 'सिद्धान्त' पत्रिका मे इसकी जो समालोचना निकली थी उसमें मेरे कुछ विचारो को गलत कहा गया था, विशेषतः उन विचारो को जिनको मै अद्वैतवाद के प्रति गान्धी जी की देन मानता हूं। किन्तु इन्हीं विचारो की प्रशंसा अन्य क्षेत्रों में हुई थी जो अपेक्षाकृत निष्पक्ष विचार के लिए विख्यात हैं। दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष ४

अंक १, सन् १९५८ में श्री रामभाधव चिंगले ने इसकी सुविस्तृत समीक्षा २१ पृष्ठों मे की थी और मुक्ति-विषयक इसके कुछ निरूपणों को निराधार बताया था। परन्तु वही वर्ष ४ अंक ४ सन् १९५८ में उनके विचारों का प्रतिवाद श्री धर्मराज काश्यप ने ४ पृष्ठों मे किया था। यह वाद-प्रतिवाद बताते हैं कि 'गान्धी का दर्शन' पर्याप्त चर्चा का विषय रहा है।

पुनश्च गान्धी-दर्शन के अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान मे संलग्न जिन सहयोगियों ने इस पुस्तक की मूल्यवत्ता स्वीकार करते हुए इसके पुनः प्रकाशन की प्रेरणा दी है उनमें डा० रामजी सिंह, भागलपुर विश्वविद्यालय डा० दशरथ सिंह, मगध विश्वविद्यालय, डा० शिवमूर्ति तिवारी, गोरखपुर विश्वविद्यालय, डा० सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव तथा डा० वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी, काशी विद्यापीठ वाराणसी, मुख्य है। इनके विचारों से मैंने निष्कर्ष निकाला कि जो पुस्तक आज से अट्ठाइस वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी उसकी उपयोगिता आज भी अक्षुण्ण है।

वस्तुत गान्धी के मूल दर्शन पर इस पुस्तक के अतिरिक्त कोई अन्य पुस्तक अभी तक नहीं है। गान्धी-दर्शन पर जो अन्य ग्रन्थ १९५८ से लेकर आज तक प्रकाशित हुए है वे गान्धी के नैतिक दर्शन, सामाजिक दर्शन, राजनैतिक दर्शन, शिक्षा-दर्शन, आर्थिक दर्शन तथा धार्मिक दर्शन से अधिक संबन्धित हैं। अतः वे सभी गान्धी के व्यावहारिक दर्शन के ग्रन्थ हैं। परन्तु यह पुस्तक गान्धी के तत्त्ववाद (तत्त्वमीमांसा) और ज्ञानमीमांसा का विवेचन करती है। यही नहीं इसकी विशेषता है कि यह गान्धी के स्वतन्त्र, अनुभवजन्य और प्रयोजनवादी ज्ञान के दृष्टिकोणों से ज्ञानमीमांसा का विवेचन करती है। पुनश्च इसमें उस समन्वयात्मक दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया गया है जिसके द्वारा गान्धी एक ओर सभी भारतीय दर्शनों के समन्वय करते हैं और दूसरी ओर विश्व के सभी धर्मों का समभाव प्रतिपादित करते हैं। मेरे

विचार से ऐसा गान्धी-दर्शन ही भारत के राष्ट्रीय एकीकरण और एकात्मता का समकालिक मुख्य आधार है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद मेरे शिष्य डा० धर्मराज यादव ने गान्धी की मूल्यमीमांसा पर मेरे निर्देशन में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की। फिर मैं डा० राममनोहर लोहिया के जीवन्त सम्पर्क में आया। डा० लोहिया ने इस ग्रन्थ को पढकर मुझे साधुवाद भी दिया था। बाद में कई गोष्ठियो मे मुझे गान्धी के विभिन्न विचारों को प्रस्तुत करने का भी अवसर मिला। इन सबके फलस्वरूप मेरे गान्धीवादी विचारों में और विकास हुआ। आज गान्धीवाद भारत के जीवन्त समाज-दर्शन के रूप में स्वीकृत हो गया है। किन्तु इसके तीन प्रकार है—(१) सत्ताधारी गान्धीवादियों की व्याख्या या गान्धीवाद की आभिजात्यवादी व्याख्या, (२) गान्धीवाद की आध्यात्मिक—धार्मिक व्याख्या और (३) गान्धीवाद की ग्रामवादी—समाजवादी व्याख्या। प्रथम व्याख्या मे गान्धी जी के स्वातन्त्र्यवाद, उदारवाद, समझौतावाद और प्रयोगवाद पर बल है। दूसरी व्याख्या मे उनके संतमत, ईश्वरवाद, सर्वधर्मसमभाव. समाज-सेवा, सत्यान्वेषण, अन्तरात्मवाद और सर्वोदयवाद पर जोर है। अन्तिम व्याख्या में उनके क्रान्तिवाद, अराजकतावाद, विकेन्द्रीकरण-सिद्धान्त, लोकनीति, लोकतन्त्र, ग्रामवाद, समाजवाद और सत्याग्रह-आन्दोलन पर बल है। तीसरी व्याख्या के अतिरिक्त किसी भी अन्य व्याख्या में सत्याग्रह को मान्यता नहीं मिली है। अत. वे व्याख्याएँ गान्धीवाद से हट गयी है। जवाहरलाल नेहरू, आचार्य विनोबा भावे और डा० राममनोहर लोहिया क्रमशः इन व्याख्याओ के प्रमुख प्रवक्ता रहे है। आज ये तीनों कीर्तिशेष है। किन्तु इनकी व्याख्याएँ जीवित है। इनमें से पहली विचार-धारा से मैं बिलकुल अप्रभावित रहा हूं। किन्तु शेष दोनो विचार-धाराओं ने मुझे आन्दोलित किया है और उनमें भी अन्तिम विचारधारा ने तो मेरे परवर्ती विचारों को सँवारा भी है। फलतः

गान्धी जी जिस समाज-दर्शन को मानते थे मेरे विचार से उसका परिपक्व रूप डा० लोहिया के विचारों मे विकसित हुआ । इस पुस्तक मे उसके ऊपर पर्याप्त सामग्री मिलेगी और पाठकगण देख सकते है कि मैंने गान्धी जी के विचारो की जो व्याख्या की है वह आरम्भ से ही डा० लोहिया की व्याख्या के निकट है । उससे आगे जाकर मैंने लोकायन-दर्शन का विकास किया है जिसके लिए पाठकगण मेरी अन्य कृतियो को देख सकते हैं, विशेषतः समाज, धर्म और राजनीतिक को । मैं समझता हूं लोकायन-दर्शन गान्धी-दर्शन और लोहियादर्शन का निष्कर्ष है । आधुनिक भारतीय समाज-दर्शन के अध्येताओ से आशा की जाती है कि वे इसका मूल्याकन करेंगे ।

इलाहाबाद

१-१-८५

संगमलाल पाण्डेय

प्रथम संस्करण का आमुख

आज से लगभग बारह वर्ष पूर्व मुझे महात्मा गान्धी की दो कृतियो को अंग्रेजी में आद्योपान्त पढ़ने का अवसर मिला। इनमें से एक थी उनकी आत्म-कथा और दूसरी थी उनकी रचनाओ का संग्रह जिसका नाम अच्छा जीवन (The Good Life) है। मेरे बाल-हृदय तथा मस्तिष्क पर इन रचनाओ का बहुत प्रभाव पडा। मै इनके विचारों और आदर्शों मे नित्य गोते लगाने लगा। पर इनके दार्शनिक मर्म को समझने में नि-सन्देह मेरी 'बाल-बुद्धि' प्रर्याप्त न थी।

बाद को जब दर्शन-शास्त्र की मुझे शिक्षा मिली, तब मैंने गान्धी जी के बारे मे लोगों की विभिन्न रायें सुनी। कोई उनको जरा-सा भी दार्शनिक नही मानता है तो कोई उनको दबी जबान से दार्शनिक तो कहता है पर शास्त्रीय दार्शनिक नही मानता है। कोई उन्हे धार्मिक नेता समझता है तो कोई धर्म के विषय मे उन्हे ढोगी कहता है और उनको मुख्यत: राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ मानता है। कोई उनको महान् रहस्यवादी द्रष्टा मानता है तो कोई धीमी आवाज से उनको रहस्य का ज्ञाता मानते हुए भी स्पष्टतः ऐसा नही कहता है। यह सब सुनकर, पढ़कर, उनके दर्शन को जानने की मेरी इच्छा बढ़ी। इसी बीच व्यावहारिक जीवन की एक आवश्यकता ने भी मुझे उनके दर्शन को पढ़ने तथा लिखने को विवश किया। वह आवश्यकता यह थी। अपने जीवन मे मैंने देखा कि जितनी शिक्षा मेरी बुद्धि को मिली है उतनी मेरी भावना और इच्छा को नही। इससे मुझे असन्तुलित जीवन का अनुभव हुआ। मैंने सोचा कि भावना और इच्छा को किस तरह शिक्षित संगठित, करना चाहिए ? बुद्धि इनसे अधिक विकसित हो चुकी थी, अतः

उसका तकाजा था कि इनको शिक्षित करने का [illegible] पहले जानना चाहिए। निदान मैं ऐसे दार्शनिकों की खोज करने लगा जिन्होंने बुद्धि के अतिरिक्त भावना और इच्छा को भी संगठित और विकसित किया है। स्पिनोजा के दर्शन से इस ओर लाभ हुआ। गान्धी जी की ओर भी इसी कारण और झुकाव हुआ। फलतः उनके साहित्य का यथाशक्ति अध्ययन किया और पढ़ने पर अनेक सत्य बातें ज्ञात हुईं। गान्धी जी मुझे महान् दार्शनिक लगे। मैंने देखा कि उनका दर्शन वर्तमान भारत का प्रमुख दर्शन है। इसकी आज बड़ी आवश्यकता है। लोगों के मन में इस दर्शन के बारे में भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इन सब को दूर करने के लिए मैंने इसकी शास्त्रीय व्याख्या करने का संकल्प किया जो अब कार्यान्वित हो चुका है। इसका निर्णय तो विवेकी जन ही कर सकते हैं कि मैं कहाँ तक गान्धी जी को दार्शनिक मानने में ठीक हूँ और कहाँ तक उनके दर्शन की मैंने समीचीन व्याख्या की है। पर मुझे जो लाभ हुआ है वह सन्तोषप्रद है। जिस चीज को मैं चाहता था वह मुझे मिल गयी है। बुद्धि, भावना और इच्छा—तीनों को कैसे संगठित, शिक्षित और विकसित करना चाहिए, यह मुझे गान्धी-दर्शन से मिल गया है। यद्यपि अपनी भावना और इच्छा को शिक्षित करने में अभी थोड़ा भी सफल नहीं हूँ पर उनके आदर्श तथा व्यवहार में मेरा दृढ़ विश्वास है और उस ओर गलती करते हुए कुछ अपनी समझ से बढ़ भी रहा हूँ।

इस प्रकार बाल-संस्कार, विद्वान् दार्शनिकों की विप्रतिपत्तियाँ, व्यावहारिक माँग तथा नव्य भारत के नव्य दर्शन की अवश्यंभावी अभिव्यक्ति [illegible] हेतुओं की दृष्टि से [illegible] मूल्यांकन [illegible]।

[illegible] पुस्तक [illegible] अपने गुरु [illegible] कौल तथा प्रकाशक [illegible] विशेष ऋणी हूँ। [illegible] प्रेरणा मिली। पुस्तक की पाण्डुलिपि को पढ़कर और कतिपय संशोधनों का सत्परामर्श देकर

उन्होंने इसमें विशेष रुचि दिखलायी है। उनके प्रेम तथा प्रोत्साहन के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए मुझ अकिंचन के पास मौन मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्री राजनाथ गर्ग और उनके उत्साही सुपुत्र श्री त्रिलोकी नाथ गर्ग ने तो सचमुच इस पुस्तक को लिखवाया ही है, अन्यथा मेरे विचार शायद लिपिबद्ध होकर इतने शीघ्र प्रकाशित न हो पाते। उनको मैं कैसे धन्यवाद दूँ?

गान्धी-दर्शन आज हमारा राष्ट्रीय दर्शन है। उसकी जो कुछ यहाँ सेवा हो सकी हो, वही शायद इन तीनों सज्जनों को मूक धन्यवाद दे।

दर्शन विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
महावीर जयन्ती
१२-४-१९५७

संगमलाल पाण्डेय

विषय-क्रम

पहला अध्याय — १—१

गान्धी का जीवनवृत्त

दूसरा अध्याय — १७—२९

क्या महात्मा गान्धी दार्शनिक थे ?

तीसरा अध्याय — ३०—६०

[illegible] ज्ञानमीमांसा

चौथा अध्याय — ६१—११३

नव्य कर्ममार्ग

अध्याय १

गान्धी का जीवन-वृत्त

१ विश्वव्यापी मातम

३० जनवरी १९४८ ईसवी को भारत की राजधानी दिल्ली मे एक घटना घटी जिसने समस्त संसार को शोक-सागर में मग्न कर दिया, जन-जन की नेत्र-ज्योति को छीन लिया। ज्ञात इतिहास में आज तक ऐसी कोई घटना नही घटी थी जिसका इतने बडे संसार मे इतने लोगो के हृदय में इतना गम्भीर प्रभाव पड़ा हो। यदि कहा जाय कि ऐसी घटना न कभी हुई थी और न कभी होगी, न भूतो न भविष्यति, तो शायद अतिशयोक्ति न होगी, बिलकुल यथार्थ वर्णन होगा।

यह घटना क्या थी? महात्मा गान्धी सायंकाल प्रार्थना-भवन में प्रार्थना करने जा रहे थे। जैसे ही वे भवन मे पहुँचे, एक गुमराह नवयुवक ने वैसे ही पिस्तौल से तीन गोलियाँ उनपर चलाई। फलस्वरूप महात्मा का महाप्रयाण हो गया। उनके अन्तिम शब्द, हे राम, लोगों के हृदय मे गूँजते रहे, और शायद सदा गूजते रहेंगे।

इस पर संसार भर से आवाज उठी—आज मूसा को चिर निद्रा में सुला दिया गया। आज अगियारी मे नर-संहार ने जरतुश्त की अगियारी को बुझा दिया। आज शिष्यों के समक्ष गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया। आज कन्फ़ूसियस ने अपनी इहलीला समाप्त कर दी। आज महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया। आज सुकरात को हलाहल पिलाया गया। आज ईसा मसीह को सूली पर चढा दिया गया। आज कृष्ण को उनके साथी व्याध ने गोली से मार डाला। आज मुहम्मद का स्वर्गवास हो गया। आज संत फ्रांसिस

मतभेदों में पिसकर प्रेम का पाठ पढ़ाते हुए सदा के लिए सो गये ; आज हमारा देवदूत ओझल हो गया। आज ईश्वरावतार अदृष्ट हो गया। आज अच्छाई चली गई, सत्य-पक्षी उड़ गया, सत्य की मूर्ति रह न गयी, ज्ञान उठ गया, नीति भग गयी............। आज ....।

भारत के प्रधान मन्त्री, महात्मा गान्धी के शिष्य, जवाहर लाल नेहरू ने सब का सार यों व्यक्त किया — संसार में जो प्रकाश था वह आज अस्त हो गया।

२ जन्म, बचपन, शिक्षा और वकालत

यह प्रकाश २ अक्टूबर १८६९ ईसवी को पोरबन्दर, सुदामापुरी, काठियावाड़ में कर्मचन्द्र गान्धी के घर उनकी चौथी पत्नी पुतली बाई के गर्भ से उनकी सबसे छोटी सन्तति मोहनदास के शरीर में आया था। पर उस समय यह प्रकट न था। कोई इसको जगद्-व्यापी न समझता था। मोहनदास साधारण बालक की तरह विकास करने लगा। माता-पिता की धार्मिक प्रवृत्ति के कारण वह मंदिर आदि में बचपन से ही जाने लगा। राजकोट की ग्राम पाठशाला से कस्बे की पाठशाला और फिर उससे हाईस्कूल तक पहुँचने में उसके बारह वर्ष पूरे हो गये। हाईस्कूल के समय एक घटना घटी जिसमें उसने सिद्ध किया कि वह नकलची नहीं है। इसी समय सत्यवादी हरिश्चन्द्र और श्रवण-पितृ-भक्ति इन दो नाटकों को देखकर उसने सत्यवादिता और पितृभक्ति की प्रेरणा प्राप्त की। तेरह वर्ष की अवस्था में ही कस्तूरबा के साथ उसका विवाह हो गया। वह विषय-सुख में विशेष आसक्त था। विवाह के परिणामस्वरूप उसकी पढ़ाई का एक वर्ष बेकार चला गया। हाईस्कूल में वह मन्दबुद्धि विद्यार्थी माना जाता था। कसरत में उसकी रुचि न थी, [illegible] थी, [illegible] न आती थी, संस्कृत तो और भी [illegible] लगती थी। [illegible] अंग्रेजी थी, गुजराती नहीं जो [illegible] थी। [illegible] में और भी दिक्कत पड़ती थी। [illegible] मांस खाना पड़ा। पर गान्धी [illegible] अतः माता-पिता को धोखा [illegible] दिया। उसी कुसंग के कारण [illegible] व्यभिचार की इच्छा से,

पर उस कमरे में जाते ही वह अन्धा हो गया, बोलने का होश जाता रहा। लज्जा से स्तब्ध होकर वह उस स्त्री के पास चारपाई पर बैठ गया, पर बोली न निकली। स्त्री रुष्ट हुई और दो-चार गालियां देकर दरवाजे की राह दिखाई। इस बचाव से उसे शर्म तो आई पर बाद को दुख न हुआ। ऐसे ही उसके जीवन में चार और अवसर आये और परमात्मा ने उसको सर्वदा ऐसे ही बचाया। सिगरेट पीने की कुटेव भी उसको पड़ी। पैसा घर से अधिक न पाने के कारण उसे इसके लिए चोरी भी करनी पड़ी। पितृभक्त होने के कारण वह पिता की सेवा करता था। पर एक ओर पितृभक्ति थी तो दूसरी ओर स्त्री-आसक्ति। इन दोनों से वह बँधा था। दैवयोग से जिस घड़ी उसके पिता की मृत्यु हुई उस समय वह अपनी स्त्री के साथ था और रुग्ण पिता की सेवा को छोड़कर वहाँ था।

इस प्रकार मोहनदास बिलकुल साधारण था। सब करते-करवाते १८८७ में उसने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की और माता के सामने प्रतिज्ञा करके कि वह मांस, मदिरा और मैथुन से दूर रहेगा, बिलायत में बरिस्टरी पढ़ने गया।

बिलायत में कानून की पढ़ाई के अतिरिक्त उसने पुरानी और नयी बाइबिल पढ़ी और उनसे प्रभावित हुआ। कुछ मित्रों के संपर्क के कारण उसे गीता को भी पढ़ना पड़ा। एडविन आर्नल्ड के गीता का अनुवाद तथा बुद्ध-चरित का अनुवाद उसको अत्यन्त पसंद आये। थियोसोफिकल सोसाइटी से भी उसका परिचय हुआ और इसका साहित्य पढ़ने को मिला। आचरण की दृष्टि से उसने माता के समक्ष की गई तीनों प्रतिज्ञाओं का पालन किया और सादगी से जीवन बिताया। १८९१ में वह बैरिस्टर बना, इंग्लैंड के हाईकोर्ट में ढाई शिलिंग देकर अपना नाम दर्ज कराया और फिर उसी साल हिन्दुस्तान लौट आया। आने पर रायचन्द्र भाई से परिचय हुआ और उनसे धर्म की प्रेरणा मिली। राजकोट और बम्बई में उसने वकालत शुरू की। एक मामिला पाकर वह नैटाल, दक्षिण अफ्रीका में वकालत करने अप्रैल १८९३ में गया। मुकदमे का मुवक्किल दक्षिण अफ्रीका में रहने वाला एक भारतीय था जिसका नाम सेठ अब्दुल्ला था।

जो प्रकाश अभी तक मंद या गुप्त था, वह दक्षिण अफ्रीका में जाकर प्रकट हो गया।

२ ज्ञानोदय की झलक

इसके उदय होने का एक विशेष समय है, मुहूर्त है। इसका एक विशेष स्थान है। इसका विशेष महत्त्व है क्योंकि यहीं से वह प्रकाश उगता है जिसके अस्त हो जाने पर विश्वव्यापी मातम मनाया जाता है। यहीं से मोहनदास गान्धी का पुनर्जन्म होता है, वे द्विज होते हैं। यहीं से उनका महात्मापन आरंभ होता है जिसके फलस्वरूप पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा बाद को सभी भारतीयो ने उनको 'महात्मा' की उपाधि दी। अगर कोई गान्धी से पूछे कि उनके जीवन मे सबसे क्रान्तदर्शी अनुभव कौन था तो वे इसी प्रकाश के उदय को बताते हैं। उन्ही के शब्दों मे इसका वर्णन यों है—

"मेरे दक्षिण अफ्रीका पहुचने के सात दिन बाद यह मेरे पास आया। मैं वहाँ विशुद्ध स्वार्थी तथा लौकिक विचार मे गया था। नेटाल बन्दर से मैं प्रिटोरिया ट्रेन से जा रहा था। मेरे पास प्रथम श्रेणी का टिकट था, किन्तु बिस्तर टिकट नहीं था। मारित्सबर्ग स्टेशन पर जब बिस्तर यात्रियों को दिए जा रहे थे, तो गार्ड मेरे पास आया मुझको उतार दिया और कहा कि 'जाकर माल के डिब्बे मे बैठ जाओ'। मैं उस डिब्बे में न जा पाया। गाडी मुझ छोड़कर रवाना हो गयी, मैं सर्दी मे काँपता खडा रहा। अब यहीं एक क्रान्तदर्शी अनुभव होता है। मै अपने जीवन के विषय में भयभीत था। किसी तरह अंधेरे प्रतीक्षालय में घुसा। वहाँ एक गोरा था। मैं उससे डरा। मैंने अपने से पूछा—मेरा क्या कर्त्तव्य है? क्या मुझे भारत वापिस चला जाना चाहिए? अथवा ईश्वर जो दुखियो का वली या रक्षक है उसके भरोसे आगे बढना चाहिए और मेरे भाग्य मे जो था उसका सामना करना चाहिए? मैंने निश्चय किया कि मैं रुकूँ और दुःख भोगूँ। मेरी सक्रिय अहिंसा इसी तारीख से शुरू हुई"।[१]

इस तरह मारित्सबर्ग रेलवे स्टेशन गान्धी का गया का वह बोधिवृक्ष हो गया जिसके नीचे आज से २५०० वर्ष पूर्व सिद्धार्थ बुद्ध हुए थे। यहीं गान्धी बुद्ध हुए, पर उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ मे सिद्धार्थ हुए थे। दीनबन्धु एण्ड्रज ने लिखा है—"संत पाल की तरह गान्धी द्विजों की श्रेणी में आते हैं। अपने जीवन के एक विशेष क्षण में उन्होने मानव आत्मा की भयावह करवट बदली। इसी को हम धर्म-परिवर्तन कहते हैं। काफी रात बीत चुकी थी।

वे एक अपरिचित रेलवे स्टेशन पर थे। किसी को जानते नही थे। वही रात भर वे अपमान सहने के बाद सर्दी से काँपते रहे। अपने भीतर लड़ते रहे।...........प्रातः के पूर्व ही उनको प्रकाश मिला। ईश्वर की कृपा से उन्होंने मानव-लीला करने का संकल्प किया[१]।"

दक्षिण अफ्रीका मे रंग-द्वेष बहुत अधिक था और आज भी है। इसी के फलस्वरूप गान्धी को प्रथम श्रेणी के डिब्बे से उतार दिया गया और तब उनको विचित्र अनुभव हुआ।

इस विचित्र अनुभव को कुछ लोग रहस्यवाद मानते हैं। पर इसे रहस्य-वाद बनाना ठीक नही जान पडता। यह मानवीय अनुभव है। मीराँ की वाणी सत्य है—

दास मीराँ लाल गिरिधर
दुख जहाँ तहाँ पीर।

दु:ख मे मनुष्य को परमात्मा याद आता है। वह अपने को समझता है, कुछ सकल्प करता है और उसके अनुकूल चलने का प्रयास करता है। अतः ऐसे अनुभवो के बाद जैसे सभी लोग रहते हैं वैसे गान्धी भी रहे। कमाल की तरह उन्होने मारित्सबर्ग रेलवे स्टेशन पर अनुभव किया :—

समझ बूझ दिल खोल पियारे,
आशक होकर सोना क्या ?
जिन नैनों से नींद गँवाई,
तकिया लेफ बिछौना क्या ?
रूखा सूखा राम का टुकड़ा,
चिकना और सलोना क्या ?
कहत कमाल प्रेम के मारग,
सीस दिया फिर रोना क्या ?[३]

बस गान्धी ने यही से अपना प्रेम-मार्ग शुरू किया। दक्षिण अफ्रीका में उनके ऊपर और भी अत्याचार किये गये। उनको पीटा तक भी गया, और बिलकुल मरणासन्न कर दिया गया। पर ज्यो-ज्यो उनको दुःख मिलता जाता था त्यो-त्यों वे कमाल के साथ गा रहे थे—

कहत कमाल प्रेम के मारग,
सीस दिया फिर रोना क्या ?

इस प्रकार गान्धी के जीवन में मारित्सवर्ग की ही सदा पुनरावृत्ति होती रही है। शायद यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इस प्रथम अनुभव के क्षण से अपने निधन तक वे इस प्रकाश से सो नही रहे थे। सदैव प्रतिक्षण वे इच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक दुःख भोगते गये और इस प्रकाश को और अधिक प्राप्त करते गये। अगर कभी इससे वे च्युत हुए तो अपनी भूल मानी और उसका प्रायश्चित्त किया।

४ दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह

सेठ अब्दुल्ला का मुकदमा समाप्त करके गान्धी ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की दशा सुधारने का बीड़ा उठाया। उन्होंने फोनिक्स आश्रम की स्थापना की। भारत में आकर दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के पक्ष मे प्रबल जनमत तैयार किया। गोखले को दक्षिण अफ्रीका बुलाया। नेटाल से उन्होंने 'इन्डियन ओपिनियन' नामक पत्र निकालना आरंभ किया जिसने भारतीयों में नव चेतना का सृजन किया। वहीं उन्होने सत्याग्रह को जन्म दिया। रंग-द्वेष फैलाने वाले कानूनों का उन्होंने अहिंसात्मक ढंग से विरोध किया। अफ्रीकी सरकार ने उनको तथा उनके साथियों को कई बार गिरफ्तार किया। पर उनका सत्याग्रह आन्दोलन चलता ही रहा। भारतीयों ने उनको दिलोजान से साथ दिया। दक्षिण अफ्रीका मे भी अंग्रेजों की हुकूमत थी, जैसे भारत में। यहीं से उन्होंने अंग्रेजों से अहिंसात्मक ढंग से लड़ना शुरू किया। पर जब-जब अंग्रेज राष्ट्र पर मुसीबतें आती थीं तब-तब वे अपना सत्याग्रह बन्द कर देते थे और अहिंसात्मक ढंग से अंग्रेज राष्ट्र की मदद करते थे। इस प्रकार उन्होंने अपने शत्रुओं को भी मित्र बनाने का सफल प्रयास किया। बहुत-से अंग्रेज तो उनके अंध भक्त हो चले थे और कहना नहीं होगा कि इन अंग्रेजों की बदौलत ही गान्धी को और सफलता मिली क्योंकि उनका नैतिक दबाव इंग्लैंड को गान्धी की ओर उन्मुख करता गया। जिस वर्णद्वेषी कानून के प्रति गान्धी ने सत्याग्रह किया अन्त में वह उनके प्रयत्नों के कारण पारित न किया जा सका। उनका सत्याग्रह [illegible] रहा।

५. भारत में सत्याग्रह, स्वतन्त्रता-संग्राम और स्वतन्त्रता-प्राप्ति

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का सफल प्रयोग करके गान्धी १९१५ में सदा के लिए भारत चले आये। उनके सारे कर्मों का सूत्रपात दक्षिण अफ्रीका मे ही हुआ और उनकी विजय भी उन्होने अपनी आँखों से वहाँ देखी। वही पर उन्होंने टालस्टाय, ईसाईमत, इस्लाम और हिन्दू धर्म के मान्य ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। सन् १९०५ से उन्होने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का सकल्प किया।

भारत पहुँचते ही उनको सरकार ने 'कैसरे हिन्द' का खिताब दिया। तब गान्धी ने भारत-भ्रमण शुरू किया। एक बार तो वे दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो के लिए प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नेताओं से मिल चुके थे और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरो मे जा चुके थे, पर अब उन्होंने भारत के लाखों गावो को भी जानने के लिए भ्रमण किया। भारतीय नेताओं के साथ कांग्रेस मे कार्य करने का निश्चय किया। गोखले को अपना राजनैतिक गुरु बनाया। पर राजनैतिक चर्चाओं से अधिक उनका ध्यान समाज-सेवा की ओर गया।

इसी बीच चम्पारन के राजकुमार शुक्ल ने गान्धी से भेंट की और उनको चम्पारन के निलहे गोरो का अत्याचार तथा उनसे अपने मंद संग्राम का परिचय कराया। शुक्ल ने गान्धी को चम्पारन में सत्याग्रह करने का निमंत्रण दिया। गान्धी ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। चम्पारन मे सत्याग्रह हुआ, निलहे गोरों ने उनको और उनके साथी ग्रामवासियो को डरवाया-धमकाया, पर बाद मे भारत सरकार ने गान्धी के बढते हुए प्रभाव को देखकर सत्याग्रह मे हस्तक्षेप किया और गोरों के अत्याचार को सदा के लिए कानून द्वारा बन्द करा दिया।

चम्पारन के सत्याग्रह में गान्धी को जो विशेष बात मिली वह सत्य का साक्षात्कार था। वे कहते हैं कि वहाँ के निवासियो से "और मेरा मिलाप पुराने मित्रो का-सा जान पड़ा। इससे मैंने ईश्वर का, अहिंसा का और सत्य का साक्षात्कार किया। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं; पर अक्षरशः सत्य है। इस साक्षात्कार मे अपने अधिकार का विचार करता हूँ तो मुझे लोगों के प्रति प्रेम के सिवा और कुछ नहीं मिलता[४]।"

इसके बाद तो गान्धी के जीवन में आन्दोलन करना और जेल जाना तथा

देश की आजादी के लिए हर तरह से काम करना ही एकमात्र कार्य रह गया। खेड़ा सत्याग्रह, खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन बड़ी बहादुरी से चलाए गये। उनके अन्य आन्दोलनों में सन् २०-२२ का असहयोग आन्दोलन, सन् ३० की नमक कानून को भंग करने वाली डांडी-यात्रा, सन् ३२-३४ का सत्याग्रह-आन्दोलन, सन् ४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन तथा सन् ४२ का 'भारत छोडो' आन्दोलन मुख्य हैं। इन आन्दोलनों ने इंग्लैंड की जड को भारत से बिलकुल उखाड दिया और इनके फलस्वरूप १५ अगस्त सन् १९४७ को भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया। स्वतन्त्र भारत ने उनको अपना राष्ट्रपिता बनाया।

६ भारत-विभाजन और उसके बाद

पर इस स्वतंत्रता से गान्धी को विशेष खुशी न हुई क्योंकि इसमें भारत-माता के भारत और पाकिस्तान नाम के दो टुकड़े हो गये। गान्धी दक्षिण अफ्रीका से ही हिन्दू-मुस्लिम एकता और सर्वधर्म-समभाव को मानते थे। सन् २४ में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए २१ दिन का अनशन किया। सन् ४६ के नोआखाली के हिन्दू-मुस्लिम दंगे में उन्होंने वहाँ पैदल यात्रा की और दोनों कौमों को शान्त कराया। यद्यपि पहले वे पाकिस्तान के प्रबल विरोधी थे, पर अंग्रेजों ने जो बीज जाते-जवाते फेंका था और उसके फलस्वरूप मुस्लिम लीग और कांग्रेस ने भारत-विभाजन स्वीकार कर लिया था, उसके कारण उनको भी देश में सुव्यवस्था और स्वतन्त्रता लाने के लिए विभाजन स्वीकार करना पड़ा। पर विभाजन से लेकर मरण पर्यन्त उनका एकमात्र कार्य हिन्दू-मुस्लिम-एकता रह गया। उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया कि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों में अकसरियत और अकलियत, हिन्दू-मुस्लिम, मिलजुल कर रहें। इस विषय में उन्होंने भविष्यवाणियाँ भी कीं। जो यों है :—

(१) 'मैं भविष्यवक्ता नहीं हूं। फिर भी मुझे ईश्वर ने अक्ल दी है, मुझको ईश्वर ने दिल दिया है। उन दोनों को टटोलता हूं और आपको भविष्य सुनाता हूं कि अगर हम किसी-न-किसी कारण से एक दूसरे से (हिन्दू-मुसलमान से) दोस्ती न कर सके, यह भी यहाँ के ही नहीं, पाकिस्तान के और सारी दुनियाँ के मुसलमानों से दोस्ती न कर सके, तो समझ लें, इसमें मुझे

कोई शक नही है कि हिन्दुस्तान हमारा नही होगा, पराया हो जायगा, गुलाम हो जायगा। पाकिस्तान गुलाम होगा, यूनियन (भारत) भी गुलाम होगा और जो आजादी आज हमने पाई है उसे हम खो बैठेंगे"।[५]

(२) "मैं पाकिस्तान के रहने वालों और जिनको पाकिस्तान का भविष्य बनाना है उनको कहना चाहता हू कि अगर उनका जमीर (विवेक) जाग्रत न हुआ और अगर वह पाकिस्तान के गुनाह को कबूल नहीं करते तो पाकिस्तान को कभी कायम नही रख सकेगे। इसका यह मतलब नही कि मैं यह नही चाहता कि हिन्दुस्तान के दोनो टुकड़े अपनी खुशी से फिर से एक हो। मगर मैं साफ कर देना चाहता हू कि जबरदस्ती से मिटाने का मुझे खयाल तक नही आ सकता। मैं उम्मीद रखता हूं कि मृत्युशय्या पर पडे मेरे ये वचन किसी को चुभेगे नही"।[६]

(३) "यदि यूनियन (भारत) में अंधेरा हो तो पाकिस्तान मे उजाले की आशा करना मूर्खता है, किन्तु यदि यूनियन मे रात मिट जाने का कोई शक नही रह जाता तो पाकिस्तान मे भी रात मिट कर ही रहेगी"।[७]

ये वचन गान्धी के मुख से मरण के कुछ दिन पहले ही निकले थे। इनमे महान् संकेत भरा है कि भविष्य मे भारत और पाकिस्तान कैसे रहेगे? पर इस राजनैतिक प्रश्न की मीमासा के अन्तराल मे जो दार्शनिक समस्या है, उसको हमें अधिक महत्त्व देना चाहिए। गान्धी ने हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सभी को बराबर माना, सब में एक ही आत्मा या सत्य का निवास स्थान पाया। उनकी इस देन को हमें विशेष महत्त्व देना है। कौमी एकता को कायम रखना उनका प्रथम कार्यक्रम था।

७ हिन्दू-मुस्लिम एकता या सर्वधर्म-समभाव

दादू ने कहा—

जे पहुंचे ते कहि गये, तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एकमत, उनकी एकै जात॥
जे पहुंचे ते पूछिए, तिनकी एकै बात।
सब साधो का एकमत, बिच के बारह बाट॥

जब से शंकराचार्य का इस देश में आविर्भाव हुआ तब से सचमुच सभी सन्तों और दार्शनिकों का एकमत रहा है कि अन्तिम अवस्था जिसे मनुष्य पा सकता है, वह तुरीय है, आत्मज्ञान की स्थिति है। पर इसके साथ यह भी धारणा चली आती रही कि इस आदर्श अवस्था के नीचे 'बारह बाट' १२ मार्ग अर्थात् विभिन्न-विभिन्न मत है। गान्धी ने इसको अस्वीकार किया। उनका कहना था कि बीच मे भी एक ही बाट है। अद्वैतभावना केवल आदर्श ही नही, वह यथार्थ भी है। यथार्थ मे यदि द्वैतभावना रहे और आदर्श में अद्वैतभावना, तब तो सत्य मे ही विरोध हो जायगा। अत गान्धी ने व्यवहार और परमार्थ दोनो में अद्वैतभावना को ही महत्त्व दिया। हमारा यथार्थ अद्वैतभावना पर ही निर्भर होना चाहिए। हमे व्यवहार में भी समता लानी चाहिए। आदर्श एकता को व्यवहार में भी उतारना चाहिए। यह गान्धी की मुख्य शिक्षा रही है और कहना नही होगा कि यह भारतीय दर्शन को, अद्वैतवाद को, उनकी एक महान् देन है। हमारे वर्तमान समाज को इसी देन की बुनियाद पर खड़ा होना है।

पहले लोग अपने को हिन्दू, तुर्क, खिस्ती यहूदी, सिक्ख आदि ही कहते थे। वे बाड़े मे बँटे रहते थे। जो जरा कुछ चालाक हुए, वे दूसरो को अपने बाड़े मे घसीट लाना चाहते थे। इस प्रकार घेराबन्दी और धर्म-परिवर्तन से ससार एक होता हुआ भी अनेक हो चला था।

कुछ सुलझे लोगो ने इन विचार-धाराओं के खिलाफ आवाज उठायी और कहा कि हम न हिन्दू है, न मुसलमान, न खिस्ती, न यहूदी, न पारसी, न सिक्ख, और न ऐसा और कोई नाम। पर इनका प्रभाव समाज पर न पड़ा। समाज में इनके बावजूद भी घेराबन्दी और धर्म-परिवर्तन होते रहे।

[illegible] ने इस ओर [illegible] [illegible] रहस्यवादियों की [illegible] घेराबन्दी और धर्म-परिवर्तन को [illegible] थी, पर अपनी [illegible] यह [illegible] की कि [illegible] सच्चा हिन्दू हूँ, इसलिए मैं सच्चा [illegible] भी हूँ, सच्चा ईसाई भी [illegible] पारसी भी हूँ, सच्चा [illegible] और अन्य भी यदि कुछ है तो वही मैं सच्चा हूँ। उनका दावा था कि कोई हिन्दू या मुसलमान या पारसी या कोई अन्य धर्मावलम्बी यदि [illegible] है तो वह सच्चा अन्य धर्मावलम्बी भी है। इस महान् देन को [illegible] सूर्य की किरणों की तरह पहुँचना है। [illegible] और [illegible]

दूर होंगे और विश्व में शान्ति स्थापित होगी। धर्म के आधार पर समाज को विभाजित करना मध्ययुगीन चेतना का परिणाम है। नवयुग की चेतना इसको समाप्त करने की ओर बढ़ रही है।

८ सच्चे हिन्दू

गान्धी कैसे सच्चे हिन्दू थे? इस विषय की और मीमांसा दूसरे ढंग से करते हुए पट्टाभि सीतारमैय्या ने कहा कि गान्धी ने एक नये समन्वय का विकास किया "जो हिन्दू समाज के चार वर्णों और चार आश्रमों के अलग-अलग धर्मों का सम्मिश्रण है। गान्धी जी ने अपने व्यक्तित्व में किसान और जुलाहे के, व्यापारी और व्यवसायी के, युद्ध करने वाले और युद्ध रक्षा करने वाले क्षत्रिय और अन्ततः लोकसेवक के गुणों का एक साथ समावेश किया है। सेवा और प्रेम के द्वारा वे स्मृतिकर्त्ता और सूत्रकार के दर्जे तक पहुंच गये हैं। उन्होंने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी के धर्मों को भी एक साथ अपनाया है। उन्होंने जीवन के आदर्शों का जो ऐकान्तिक समझे जाते थे सामञ्जस्य और समन्वय कर दिया है और उनको व्यापक और सर्वाङ्गीण बना दिया है"।[८]

चतुर्वर्णी और चतुराश्रमी गान्धी निःसन्देह सच्चे हिन्दू थे। उनके इस रूप के कारण हम उन्हें चारों वर्गों को- धर्मार्थकाममोक्ष को भी प्राप्त करने वाला मान सकते हैं। और यदि इसके मानने में कुछ आपत्ति हो तो यह तो निर्विवाद है कि उन्हें पञ्चम वर्ग अर्थात भक्ति प्राप्त थी। वे पूर्ण भक्त थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल नियमित प्रार्थना करते थे, व्यक्तिगत ही नहीं बल्कि सामूहिक भी। प्रार्थना के अनंतर वे प्रवचन देते थे जिसमें अपने समय की घटनाओं और प्रश्नों पर वे अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रकाश डालते थे और उनके हल का निर्देश करते थे। उनकी प्रार्थना में बौद्ध मन्त्र, वेदवाणी, उपनिषद्, गीता, भागवत, शङ्कराचार्य, कबीर, सूर, तुलसी, नरसी, मेहता, आदि अनेक भारतीय सन्तों और कुरान, जेंदा अवेस्ता तथा अंग्रेजी के सन्तों की प्रार्थनाएं शामिल रहती थीं। इन प्रार्थनाओं का संग्रह आश्रम भजनावलि के नाम से प्रकाशित है।

९ समाज-सेवा

गान्धी ने देखा कि ग्रामोद्योग-धंधों के हट जाने से देश में भयंकर ग़रीबी

फैली हुई है। इसको दूर करने के लिए उन्होंने इन उद्योगधन्धों के पुनर्जागरण का प्रयत्न किया और बहुत-कुछ इसमें सफलता भी प्राप्त की। चर्खे का प्रचलन जो आज हम देख रहे है, वह सब उनके ही प्रताप का फल है। खादी और स्वदेशी से केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता ही नहीं मिलती और मिली, बल्कि इससे हमें सामाजिक समता और आर्थिक संपन्नता तथा धार्मिक अनुभूतियाँ भी मिलती है और मिली है।

समाज-सेवा की दृष्टि से गान्धी ने अपने को भंगी कहा। सुना जाता है कि किसी समय भगवान ने शूकर का अवतार लिया था और सारी गन्दगी को खा लिया था। गाधी ने वैसे ही समाज की भयंकर गन्दगी को मिटाने का प्रयास किया। छुआछूत-निवारण, कुष्ठरोगियों की सेवा, स्त्री-सुधार, भाषाओं की प्रगति, गो-सेवा, प्रभृति कार्यों को उन्होंने रत समझकर किया। इन सब कार्यों तथा अपने सर्वतोमुखी रचनात्मक कार्यक्रम और राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने दो आश्रमों की स्थापना की—एक सत्याग्रह आश्रम साबरमती में और दूसरा सेवाग्राम आश्रम वर्धा में। सेवाग्राम आश्रम उनके सभी कार्यों का भारत मे महान् केन्द्र बना। अतः उनको हम 'सेवा ग्राम का संत' कहते है।

१० सन्त या महात्मा

उनको 'सन्त' इसलिए कहा जाता कि वे मनसा, वाचा और कर्मणा सन्त थे या होने की कोशिश कर रहे थे। इसी का पर्याय "महात्मा" है जिस नाम से वे आज अधिक विख्यात हैं। पर उन्हे अपने महात्मापन का कभी घमंड नहीं था। उन्होने कहा है कि यह तो व्यर्थ का बोझा है। इससे उन्हे लाभ के बजाय नुकसान ही हुआ है क्योंकि वे स्वेच्छा से कहीं चलफिर नहीं सकते थे, लोग उनको घेरे रहते थे। महात्मा न कहकर वे सदा अपने को अल्पात्मा ही कहते रहे इसलिए आनन्द के० कुमार स्वामी ने महात्मा को अल्पात्मा का ही विलोम ठहराया है: दुरात्मा का नहीं। इस अर्थ मे यदि हम गान्धी के शब्दों को मानें, तो हम उन्हें महात्मा नहीं कह सकते हैं। वे वस्तुतः इस अर्थ में महात्मा थे कि वे मन, वचन और कर्म मे सदा एक रहते थे। इस अर्थ में भी महात्मा का अर्थ प्रचलित है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥

उन्होंने मन से संकल्प किया कि वे ब्रह्मचारी, सत्यार्थी, अहिंसक, अपरिग्रही और अतस्कर रहेंगे। इसके अनुसार ही उन्होंने अपनी वाणी बनायी, अपनी कृतियों को लिखा तथा उन पर कर्म किया। उनके पास दुबला-पतला शरीर, चर्खा और उसको चलाने की सामग्री, पहनने को लंगोटी और धोती, ओढ़ने को जाड़े मे कम्बल और गर्मियों में कुछ नही, एक छोटा डंडा, सब काम नियत समय पर करने के लिए एक जेब घडी तथा पढ़ने को किन्ही पुस्तकालयों से कुछ पुस्तकें और लिखने को थोड़े कोरे कागज, डायरी, कलम और दावात को छोडकर कुछ नहीं रहता था। खाने-पीने की वे वही चीज लेते थे जिसे भारत का गरीब से गरीब किसान पा सकता है। पर खाद्यों और पेयो की मात्रा उनकी गरीब से गरीब किसान की मात्रा से भी कम थी। वे खाने के लिए नही जीते थे बल्कि जीने के लिए खाते थे। दूध और पानी के अतिरिक्त वे कुछ नही पीते थे। दूध पहले गाय का पीते थे। बाद में उसको छोड दिया और बकरी का दूध पीने लगे थे। इसको भी न पाने पर वे इसके स्थान पर कुछ दूसरा सहज प्राप्त नैसर्गिक रस ले लेते थे। बिना सूत काते उन्हें चैन नही मिलता था। और इस कारण अपनी आवश्यकता भर के लिए वे प्रतिदिन नियमित सूत कातते थे। यह थी उनकी सीधी सादी रहन-सहन। इसको देखकर और इसके सिद्धान्तो की उनसे पुष्टि सुनकर लोगों ने उनको 'दरिद्र' कहा और उनके दर्शन को 'दरिद्रता का दर्शन' कहा[१०]। इसी को शिष्ट भाषा मे लोगो ने कहा कि वे सादगी पसन्द पुरुष थे और उनका दर्शन सादगी और उच्च विचार का दर्शन है। वे ऐच्छिक गरीबी को सिद्धान्ततः मानते थे।

११ रचनाएँ और प्रभाव

अपने कार्यों को सफल करने के लिए गान्धी को अखबारनवीसी भी करनी पडी। दक्षिण अफ्रीका मे वे इण्डियन ओपिनियन अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती और तमिल मे निकालते थे। भारत मे उन्होंने यग इंडिया और नवजीवन नामक समाचार पत्र निकाले। कई हरिजन समाचारपत्रो को निकालने की भी उन्होने व्यवस्था की। उनकी विचार-धारा को समझाने वाले हिन्दी मे निम्नलिखित समाचार पत्र प्रमुख है —

१—हरिजन सेवक (अहमदाबाद) २ भूदानयज्ञ (गया) ३ कमल

प्रभात (वर्धा), ४—नयी तालीम (वर्धा), ५—ग्रामोद्योग पत्रिका (वर्धा), ६—कस्तूरबा दर्शन (इंदौर), ७—जीवन-साहित्य (नई दिल्ली), ८—आरोग्य (गोरखपुर), और ९—नया हिन्द (इलाहाबाद)।

अपने समाचार-पत्रो मे लिखने के अतिरिक्त गान्धी डायरी लिखते थे और उसमे प्रतिदिन के विचारो का आकलन करते थे। पुस्तके लिखने का अवसर उन्हें नहीं मिलता था। पर जब वे गिरफ्तार कर जेल भेजे जाते थे, तब वे जेल के समय को लिखने-पढ़ने मे ही बिताते थे।

हिन्दी में उनकी मुख्य निम्नलिखित पुस्तकें छपी हैं—

(१) आत्मकथा, (२) दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, (३) नीति-धर्म, (४) सर्वोदय, (५) मगल प्रभात, (६) आश्रमवासियों से, (७) अनीति की राह पर, (८) ब्रह्मचर्य, दो भाग, (९) प्रार्थना-प्रवचन (दो भाग), (१०) मेरे समकालीन, (११) गीता-बोध, (१२) अनासक्तियोग, (१३) गीता-माता, (१४) पन्द्रह अगस्त से बाद और (१५) हिन्द स्वराज्य।

पर गान्धी-साहित्य आज इससे भी बहुत अधिक विशाल हो गया है। गान्धी के साथ काम करने वालो तथा उनके मित्रो ने उनपर बहुत कुछ लिखा-पढा है जिसके फलस्वरूप वर्तमान युग मे गान्धी का साहित्यिक जगत् मे वैसे ही महत्त्व है जैसे मार्क्स और फ्रायड का समझा जाता है। गान्धी ने अपने कृतित्व और व्यक्तित्व से सपूर्ण विश्व के विद्वानो को प्रभावित किया है।

१२ युग-पुरुष

गान्धी को कोई राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ समझता है तो कोई संत और महात्मा। कोई उन्हे शिक्षा-शास्त्री मानता है तो कोई समाज-दार्शनिक। कोई उन्हे अर्थशास्त्री कहता है तो कोई उन्हे सीधा-सादा मोढ बनिया। कोई उन्हें हिन्दू कहता है तो कोई ईसाई-परस्त या मुस्लिम-परस्त।

इस प्रकार लोगों ने उनको विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा और समझा। पर सच बात यह है कि महात्मा गान्धी ने कोई विषय या शास्त्र अछूता नहीं छोडा है। उनका जीवन इतना व्यापक था, उनकी बुद्धि इतनी सर्वतो-मुखी थी, उनके साथी इतने विभिन्न [illegible] थे कि उन्हें सब प्रकार के विषयो या शास्त्रों के बारे में कुछ-न-कुछ, कभी-न-कभी कहना पड़ा। अतः हमें उनके साहित्य में अनेक [illegible] का [illegible] मिल सकता है। पर

उनका स्वयं का विचार था कि उनकी मुख्य और सर्वसंग्राहक प्रवृति आत्म-साक्षात्कार की थी। अतः इसको केन्द्र बनाकर उनके विचारो का जो मण्डल बनेगा वही उनकी मुख्य विचारधारा को व्यक्त करेगा। उसी के अन्तर्गत उनकी समस्त चिन्तनाओ और कृतियो का स्थान भी सुनिश्चित होगा।

गान्धी ने भारतीय जीवन तथा साहित्य पर अमिट छाप छोड़ी है। वे अपने युग की नवचेतना के मूर्तिमान् पुरुष थे। उनके आत्म-साक्षात्कार या आत्मज्ञान के दर्शन मे भी हमे इसका भान होता है। डा० राधाकृष्णन् ने सही कहा है कि वे अतीत और भविष्य की देहली थे। उनमे अतीत के युगो का समन्वय था और भावी युगो का निर्माण करने की नवशक्ति थी। जो नया युग इस समय पैदा हो रहा है उसके वे ही जनक हैं। हम इसीलिए उन्हे अपने नवजात भारत का राष्ट्रपिता कहते है, 'बापू' कहते हैं।

इस प्रकार साधारण मोहनदास असाधारण युग-पुरुष हो गया। वह यह कह भी गया कि जो उसके लिए शक्य है वह सबके लिए शक्य है। इसी को हम यों कह सकते है कि उसके लिए वही शक्य था जो सबके लिए सदा शक्य है। यह नहीं, वह यह भी कह गया कि उसके समान कोई खल, कुटिल, नहीं था। वह व्याध से बाल्मीकि होने वाली प्राचीन घटना का वर्तमान उदाहरण प्रस्तुत करता है। एक बाल्मीकि का भारत मे इतना प्रभाव है कि आज तक वह बना हुआ है, उसी से हमारी अधिकांश परम्पराएँ चली है। दूसरे बाल्मीकि ने भारत का पुनरुद्धार किया। इस युग-पुरुष के विचार भी रामायणकार के विचारों से कम महत्त्व के नहीं है। उसके विचारों का अवगाहन नवयुग के लिए उतना ही आवश्यक है। जितना रामायणकार के विचारों का।

टिप्पणियां

१ Mahatma Gandhi, ed. S. Radhakrishnan, George Allen and Unwin, London, पृ० १२०।

२ वही पृ० ४९।

३ द्रष्टव्य, आश्रम भजनावलि, नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद।

४ आत्मकथा, मोहनदास कर्मचन्द गान्धी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ५१७ ।

५ प्रार्थना-प्रवचन, भाग दो, मोहनदास कर्मचन्द गान्धी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ३१५ ।

६ वही पृ० ३१३ ।

७ वही पृ० ३२० ।

८ गान्धीवाद : समाजवाद, हिन्दी प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, पृ० ७६ ।

९ द्रष्टव्य राधाकृष्णन् का उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० ६३-६७ ।

१० गान्धीवाद : समाजवाद, पृ० १५० ।

अध्याय २

क्या महात्मा गान्धी दार्शनिक थे ?

१ गीता के भाष्यकार

गान्धी भगवद्गीता को तत्त्वज्ञान का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानते थे[1]। उन्होंने भगवद्गीता पर अपना भाष्य भी लिखा जो गीता-बोध के नाम से प्रसिद्ध है। फिर भगवद्गीता का उन्होंने अपने भाष्य के अनुसार अनुवाद भी किया जो अनासक्तियोग के नाम से सर्व-विदित है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गीता के शब्दों या पदों की अक्षरानुक्रमणिका, उनका स्थल-निर्देश और उनका अर्थकोश शास्त्रीय रीति से तैयार किया जो, आज गीतापदार्थकोश के नाम से प्रकाशित है। यही नहीं; वे गीता को अपनी माता कहते थे, अपने सभी सिद्धान्तों को गीता से प्राप्त करते थे। वे सदैव गीता का पाठ तथा ध्यान करते थे, उसके अनुसार आचरण करते थे, औरों को गीता कंठ करने तथा उसके अनुसार चलने का उपदेश देते थे।

गान्धी का मत था कि गीता की शिक्षा अनासक्ति है, अहिंसा है, हिंसा नहीं। गीता-विषयक उनके विचार गीता के अन्य सभी भाष्यकारों से भिन्न हैं। महादेव देसाई ने 'गान्धी के अनुसार गीता' नामक एक मनन करने योग्य ग्रन्थ की रचना करके इस तथ्य की शास्त्रीय रीति से पुष्टि की है। संत विनोबा ने स्थितप्रज्ञदर्शन तथा गीताप्रवचन लिखकर गान्धी के अनुसार गीतोक्त दर्शन का व्याख्यान किया है। रहस्यवादी विद्वान् दार्शनिक रानडे ने लिखा कि गीता के भाष्यों के जगत् में गान्धी की तीन मौलिक देनें हैं—(१) गीता के युद्ध और घटनाओं का लाक्षणिक या आध्यात्मिक अर्थ, (२) यज्ञरूपी-शरीर श्रम का सिद्धान्त तथा (३) सर्वश्रेष्ठ नैतिकगुण के रूप में अनासक्ति का योग। उनका पुनः कहना है कि इनमें से प्रथम के विषय में

३ प्रयोगवादी सत्यार्थी

गान्धी सत्यार्थी थे। वे कहते हैं—"मेरा कर्त्तव्य तो ··· है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है[२]। "मैं पुजारी तो सत्य-का ही हूं। वही एक सत्य है और अन्य सब मिथ्या है। यह स नहीं, पर मैं इसका शोधक हूं। इसकी शोध में मैं अपनी प्र वस्तु भी त्यागने को तैयार हूं।·········इस सत्य का साक्षात् न मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उस काल्पनिक सत्य आधार मानकर, अपना दीपक समझकर, उसके आश्रय में बिताता हूं।·········इस मार्ग पर चलकर अपनी भयंकर भूलें भ सी लगती है क्योंकि ये भूलें करते हुए भी मैं बच गया हूं और के अनुसार आगे भी बढ़ा हूं। दूर-दूर से विशुद्ध सत्य की—झांकी भी हो रही है। सत्य ही है, इसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है[३]"।

कई बार गान्धी ने कहा था कि [illegible] के [illegible] के क्षेत्र न उतरते और राजनीति में [illegible] उन्हें [illegible] के लिए [illegible] होना पड़ा था। [illegible] पहले [illegible] [illegible] ।

उन्होंने अपने समग्र जीवन को ही सत्य का प्रयोग कहा। [illegible] 'सत्य के प्रयोग' है। वे [illegible] [illegible] विज्ञानवे-[illegible] [illegible] अहिंसा आदि गुणों [illegible] प्रयोग से [illegible] [illegible] प्रतिपादित किया।

[illegible] प्रयोगवाद में सम्पूर्णता का दावा नहीं किया [illegible] अपने प्रयोगों के बारे में भी कहा—"अपने प्रयोगों [illegible] किसी तरह की सम्पूर्णता का दावा नहीं करता ···· निरीक्षण किया है, प्रत्येक बात को जांचा है, उसका [illegible] हुए परिणाम [illegible] लिए अंतिम ही है अथ [illegible] कभी [illegible] नहीं चाहता। हां, एक दावा [illegible] और [illegible]

गान्धी-साहित्य का अध्ययन करते समय प्रतीत होता है कि पाठक किसी ऐसे गौतम, कणाद, जैमिनि, व्यास, कपिल या पतंजलि के मानसिक जीवन का अध्ययन कर रहा है जो इस समय आध्यात्मिक प्रयोगों के बल पर सत्य-दर्शन की स्थापना कर रहा है; उसका सत्य एक और अद्वितीय तो है ही, इसके अतिरिक्त बृहत्तर या भूमा भी है। सत्य का अर्थ प्रयोग करते-करते बढ़ता जाता है। क्या ऐसे सत्यार्थी को, ऐसे प्रयोगवादी को, दार्शनिक नहीं कहा जा सकता है? गान्धी सच्चे प्रयोगवादी तत्त्वज्ञानी थे।

कुछ लोग कह सकते हैं कि गान्धी को दर्शन का ज्ञान रूढ़ि तथा परम्परा से हुआ था। उनका दर्शन हिन्दुओं का परम्परागत, रूढ़िगत, दर्शनमात्र है।

पर इस आक्षेप का प्रयोगवाद के साथ मेल नहीं बैठता। प्रयोगवादी परम्परावादी या रूढ़िवादी हो नहीं सकता। यदि रूढ़ि या परम्परा से उसको कुछ ज्ञान मिलता है तो वह उसकी अपनी प्रयोगशाला में परीक्षा करेगा। परीक्षोपरान्त वह उसको तभी मानेगा जब वह खरा उतरेगा। गान्धी ने तो वस्तुतः रूढ़िवाद को अपने प्रयोगवाद के लिए त्याज्य ठहराया है—"सत्य के आग्रही को चाहिए कि रूढ़ि से चिपककर ही कोई काम न करे और अपने विचार से दृढ़तापूर्वक न चिपके। उसमें दोष होने की संभावना सदा माने और उस दोष का ज्ञान जब हो जाय तब चाहे जितनी [illegible] हो, उस उद्गार को उसे स्वीकार करे और प्रायश्चित्त [illegible]!"

गान्धी ईश्वरवादी अवश्य थे, धर्मनिष्ठ अवश्य थे, पर परम्परावश अथवा [illegible] प्रमाण मानकर वह वैसे नहीं थे। परम्परा से उनको [illegible] मिला था [illegible] दूसरा था। उनका ईश्वर वह नहीं था। वे अनुभव तथा युक्ति के आधार पर ईश्वरवादी या धर्मनिष्ठ थे।

४ बुद्धिवादी

कुछ लोग दर्शन को बुद्धिवादप्रधान या युक्तिप्रधान मानते हैं। उनके मत में युक्ति की प्रधानता न होने से दर्शनशास्त्र दर्शनशास्त्र नहीं कहा जा सकता है, किन्तु वह धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र या [illegible]

नहीं हैं, या वे युक्ति को प्रधान नहीं मानते हैं। अत उनके
नाम से अभिहित नहीं हो सकते।

किन्तु यह आक्षेप भी मिथ्यारोप मात्र है। प्रयोगवादी
यह असंगत है। फिर जिस व्यक्ति की वकालत में दीक्षा हुई
वकालत कर लेता हो, वह कैसे युक्तिवादी नहीं है? जिस
जीवन सार्वजनिक सभा, गोलमेज सभा, कांग्रेस सभा तथा
के साथ व्यक्तिगत बैठक में भारतीयता और स्वतंत्रता की
बीता है, वह कैसे युक्तिवादी नहीं है? फिर जो अपने और
कार्यों में युक्तिवादी है और मनसा, वाचा तथा कर्मणा सर्व
दावा करता है, वह अपने दर्शन में युक्तिवादी कैसे नहीं
अपने दार्शनिक सिद्धान्त पर आस्तिकों तथा नास्तिकों से
उनकी दलीलों को काटते हुए अपनी दलीलें पेश करता है,
वादी नहीं है? निःसन्देह एवंभूत महात्मा गान्धी युक्तिवादी
वादी थे, यद्यपि वे कोरे युक्तिवादी या बुद्धिवादी न थे।

पर बुद्धिवाद कब अपने को कोरा होने को कहता है?
प्रमेय मिल जाय और उसका वह प्रमाण दे दे, तो फिर वह
जाता है।

गान्धी बुद्धि के अनुसार चलने को ही उचित करते हैं
मूल तथा फल पर भी विचार करते हैं। बुद्धि के ऊपर पर
उन्होंने कहा—'मनुष्य वहीं करेगा जो उसका हृदय उसे
प्रथम हृदय है और फिर बुद्धि। प्रथम, सिद्धान्त और फिर
स्फुरण और फिर उनके अनुकूल तर्क। प्रथम कर्म और फिर
बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है। तथापि जो कुछ भी कर
चाहता है उसका समर्थन करने के लिए प्रमाण भी ढूँढ निकाल

यदि दृष्टि कोने कुछ और करे कुछ [illegible], तो गान्धी जी
कहते थे, वह [illegible] है। बौद्धिक विचार की [illegible]
व्यावहारिकता [illegible] व्यवहार में आने में, तब पर इसी
[illegible] बुद्धिवादी को

स्वाइत्जर जो कुछ विचार करता है, लिखता है, या कहता है, उस पर अपने जीवन में अमल किए बिना नहीं रहता, बल्कि वह विचार ही इस तरह करता है कि उस पर उसे अमल करना है। अब मेरी समझ में आया कि क्यों उसके विचार पाठकों के मन पर अपनी कठोर और भयजनक प्रामाणिकता की छाप डालते हैं। अमल करने का खयाल रखे बगैर आप विचार करते रहें तो सब किस्म की झूठी बातों का विचार करना आसान हो जाता है। अगर आप को पहले से ही इस बात का भान हो कि जो विचार करते हैं उस पर आपको जीवन में अमल करना है तो खयाल कीजिए कि कैसी बारीकी से और कितने सच्चे दिल से आप विचार करेंगे[६]"।

इस प्रकार बुद्धि की सहृदयता तथा व्यावहारिकता उसका भूषण है, न कि दूषण।

गोरा लिखित एन एथीस्ट विद गान्धी (गांधी के साथ एक निरीश्वरवादी) नामक पुस्तक के पाठक जान सकते हैं कि गान्धी का उक्त बुद्धिवाद कितना उस निरीश्वरवादी को बुद्धिवाद प्रतीत हुआ था।

पुनश्च अपने युक्तिवाद को महात्मा गान्धी ने स्वयं व्यक्त किया है—

"युक्तिवादी लोग सराहनीय जीव हैं। जब युक्तिवाद, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ होने का दावा करता है, तो यह हेय पिशाच बन जाता है। युक्ति या बुद्धि को सर्वशक्तिमान् कहना उतनी ही बुरी मूर्तिपूजा है जितनी कि लकड़ी और पत्थर को ईश्वर मानकर उनकी पूजा। मैं बुद्धि या युक्ति (Reason) के दमन की दलील नहीं करता। मैं अपने में छिपे उस तत्त्व को पहिचानने की दलील करता हूँ जो बुद्धि या युक्ति को शुद्ध करता है[१०]"।

आज का वैज्ञानिक युक्तिवाद बुद्धि को संपूर्ण तथा सर्वज्ञ या सर्वशक्तिमान् नहीं मानता है। वह संपूर्णता का दावा नहीं कर सकता, वह संभाव्यता तक ही सीमित है। यही वैज्ञानिक युक्तिवाद गान्धी का भी युक्तिवाद है। इस पर भी जो लोग उनको बुद्धि की उपेक्षा करने वाला रहस्यवादी या धार्मिक मान बैठे हैं, उनको क्या कहा जाय ?

प्रायः गान्धी को जो लोग दार्शनिक मानते हैं, वे उनकी तुलना सुकरात, बुद्ध तथा कन्फूसियस से करते हैं। ये सभी नीतिज्ञ थे। इनको हम नैतिक दार्शनिक ही मानते हैं। किन्तु इनमें और गान्धी में कुछ फर्क है। गान्धी केवल नैतिक दार्शनिक या धार्मिक ही न थे। उन्होंने तत्त्वज्ञान या तत्त्वदर्शन की

इन नीतिशा की तरह उपेक्षा नही की, बल्कि उन्हों
अपना मौलिक विषय बतलाया ।

५ महान् दार्शनिक

दर्शन के इतिहास मे बहुत-से ऐसे दार्शनिक हैं जो द
मीमांसा को तो छोड़ देते हैं, पर धर्म नीतिशास्त्र, समाज
राजनीति, व्यवहारशास्त्र (अर्थशास्त्र) आदि की पर्याप्त
ऐसे दार्शनिक विरले ही हैं जो दर्शन के समस्त वि
चिन्तन करते हैं। प्लेटो, अरिस्टाटिल, स्पिनोजा, काण्ट,
विरले दार्शनिक है। कहना नही होगा कि महात्मा गान्धी
लोगो के वर्ग मे है। उन्होने भी दर्शन के समस्त वि
चिन्तन किया, सब की बुनियादी समस्याओं की मीमांस
को अपने सम्पूर्ण दर्शन का समन्वित अंग बनाया। शिक्ष
वर्तमान पाश्चात्य तथा प्राचीन प्राच्य शिक्षाशास्त्रों के
बुनियादी मूलतत्त्वों को लेकर अपना शिक्षाशास्त्र बना
बेसिक शिक्षाशास्त्र कहा जाता है। अगर हम 'बेसिक' वि
अर्थ करें और उसके द्वारा बुनियादी मूलतत्त्व का अर्थ ल
की सभी शाखाओं को बेसिक कहा जा सकता है। उनका
[illegible] नैतिक [illegible] वैदिक [illegible]
[illegible]
एवम् और [illegible]
किया। [illegible] दार्शनिकों [illegible]
[illegible]
[illegible]
किया। [illegible]
इतना करने पर [illegible] उन्होंने प्रयोग
प्रयोग किया, [illegible] प्रयोग [illegible] और प्रयोग की स
[illegible] तथा परिवर्तन [illegible]। इस प्रकार उन्होंने
[illegible] अपने अनुसार की।

६ [illegible]

[illegible] को व्यावहारिक आदर्शवादी (Pract
[illegible]

मन्वयात्मक था, इसलिए उन्होंने इसे अपनी पारिभाषिक शब्दावली द तथा अनेकान्तवाद भी कहा[12]। लोग उनको संत तथा महात्मा वे अपने को भक्त कहते थे। कभी-कभी वे अपने को युक्तिवादी तवादी या प्रगतिवादी भी कहते थे। अपने वाद को जड़वाद से ते हुए उन्होंने कहा—"आज जड़वाद का ही बोलबाला है और समझने लगे हैं कि चैतन्यवाद या आत्मिक बल कुछ है ही नहीं, न तो हाथों से उसे छू सकते हैं और न आँखों से देख सकते हैं। तु मैं अध्यात्मवादी हूं और मेरे लिए नैतिक बल के सामने पशुबल मित नहीं है। मैं तो अब भी यही कहूंगा कि पशुबल अस्थायी है मबल या आत्मबल या चैतन्यवाद एक शाश्वत बल है। वह ाला है, क्योंकि वह सत्य है। जड़वाद तो एक निकम्मी

ग्य से आज हिन्दुस्तान भी इसमें फंस गया है और यह समझने लगा वाद ही सब कुछ है। परन्तु मेरा तो अटल विश्वास है कि आखिर वाद या आत्मवाद की ही विजय होगी[13]।"

होने पर भी क्या वे दार्शनिक नहीं थे? अवश्य थे। पर वे दर्शन को गान्धीवाद कहना नहीं चाहते थे। उनके मत से नाम की कोई चीज नहीं है, क्योंकि जिसे लोग गान्धीवाद पुकारते [illegible] सिद्धान्त है, जिसको [illegible] [illegible] था र उन्होंने आचरण भी किया था। गान्धी इसी सनातन दर्शन (Philosophy) को मानते थे। वे उसके [illegible] [illegible] नहीं [illegible] इस दर्शन का नाम गान्धीवाद [illegible] [illegible] हुए शिष्यों ने भी इसे स्वीकार किया। [illegible] यदि गान्धीवाद नाम दिया जाय तो यह [illegible] कि यह [illegible] दर्शन नहीं है, [illegible] दर्शन [illegible] है [illegible] [illegible] है जिसको [illegible] [illegible] [illegible] नाम न देने से इस दर्शन की [illegible] तथा [illegible] ती है। पर युग इससे [illegible] [illegible] का दर्शन में [illegible] [illegible]। यदि सनातन [illegible] को कोई

सच्चा दार्शनिक कहें तो कह सकता है, क्योंकि उनकी दो देनें होती हैं। एक तो वे अतीत के दर्शन का भावार्थ समझते हैं और दूसरे वे उसके कतिपय सिद्धान्तों को नया अर्थ देते हैं और प्राचीन या परम्परागत अर्थ का बहिष्कार करते हैं। गान्धी ने भी यही किया।

७ आधुनिक दार्शनिकों की सम्मतियाँ

आधुनिक भारतीय दार्शनिकों ने गान्धी को दार्शनिक मानते हुए उनके दर्शन की व्याख्या की है। डा० राधाकृष्णन् ने गान्धी को दार्शनिक ही नहीं वरन् पैगम्बर भी मान लिया—"विनष्टप्राय अतीत के एकमात्र प्रतीक ये (गान्धी) उस नवीन संसार के पैगम्बर भी हैं जो पैदा होने के लिए प्रयत्न कर रहा है[५]।"

"वे (गान्धी) उन अवतारों में से हैं जो मानव जाति के तारक हैं[१६]।" डा० राधाकृष्णन् की इन युक्तियों में शायद सत्यांश अक्षरशः नहीं हैं। हम सामान्यतः अवतारी पुरुष को ईश्वर समझ लेते हैं। गान्धी ने ईश्वर होने से इन्कार किया है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि सत्य को छोड़कर उनको ईश्वर कहीं दिखलाई नहीं पड़ा। वे अपने को जीवन्मुक्त भी नहीं मानते। उनका मत विदेहमुक्ति है। अतः शायद डा० राधाकृष्णन् की उक्तियों का सरल भाषा में यह अर्थ है कि गान्धी का दर्शन भावी संसार का दर्शन होगा। यदि यह ठीक है तो इसमें बहुत कुछ सच्चाई है। गान्धी का दर्शन दर्शन के सर्वमान्य बुद्धिवादी तत्त्वों का ही विवेचन है और उस पर आचरण करना है। अतः यदि कभी संसार को हिंसा से मुक्ति मिली तो वह गान्धी के ऐसे अहिंसक दर्शन को अपनाकर मुक्त हो सकता है। इस अर्थ में गान्धी भावी संसार के ही नहीं वरन् हिंसा-ग्रस्त वर्तमान संसार के भी दार्शनिक हैं।

डा० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे ने गान्धी को कोरा दार्शनिक ही नहीं वरन् संत तथा भक्त मानते हुए सिद्ध किया है कि गान्धी का धर्म दार्शनिक था और उनका दर्शन धार्मिक था।

सभी महान् संतों की भाँति गान्धी के भी ईश्वर के बारे में अपने विचार हैं, नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों का उनका अपना सिद्धान्त है, उनकी अपनी आध्यात्मिक तीर्थ-यात्रा है, उनकी अपनी आत्मा की अमावस्या है तथा अन्त

में सबके ऊपर उनकी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हैं। इस कारण डा० रानडे ने ठीक ही कहा है कि "ईश्वर-विषयक उनके विचार दार्शनिकों के भी अध्ययन के योग्य हैं[१७]"।

अमेरिका के कुछ जिज्ञासुओं को गान्धी का दर्शन समझाते हुए डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त ने भी महात्मा गान्धी का दर्शन नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने गान्धी के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना पश्चिम के महान् दार्शनिकों के सिद्धान्तों से करते हुए उनके दर्शन की युक्तियुक्त, यद्यपि अत्यल्प, व्याख्या की है। अपने ग्रन्थ भारत का प्रत्ययवादी विचार (**Idealistic Thought of India**) में डा० राजू ने भी गान्धी के कतिपय दार्शनिक सिद्धान्तों की युक्तियुक्त विवेचना की है यद्यपि वे गान्धी को शास्त्रीय (Academic) दार्शनिक नहीं मानते हैं[१८]।

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों में से कइयों ने गान्धी को सच्चे अर्थ में दार्शनिक मानते हुए उनके एक-दो सिद्धान्तों पर टीका-टिप्पणी करते हुए विवेचन किया है। इनमें से हाकिंग, म्योरहेड, जोड तथा एल्डुअस हक्सले मुख्य हैं[१९]।

इन दर्शनाध्यापकों के प्रयासों से सिद्ध है कि गान्धी एक दार्शनिक ही नहीं वरन महान दार्शनिक थे। अपनी-अपनी रुचि के कारण इन लोगों ने गान्धी-दर्शन के एक विशेष पहलू को ही पकड़ कर दिखला दिया कि गान्धी का दार्शनिक-अनुदान कम नहीं है। प्रायः इन विद्वानों ने गान्धी को धार्मिक दार्शनिक, नैतिक दार्शनिक, सामाजिक दार्शनिक तथा राजनैतिक दार्शनिक ही माना है और इनमें से किसी ने भी उनको उतना तत्त्वज्ञानी नहीं माना जितना कि धार्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दार्शनिक। पर ऊपर के विवेचनों से स्पष्ट है कि गान्धी उतने ही महान् तत्त्वज्ञानी थे, ज्ञानमीमांसक थे, जितने कि धार्मिक, नैतिक या सामाजिक दार्शनिक। उनकी दृष्टि में तत्त्वज्ञान तथा ज्ञानमीमांसा अन्य सभी शास्त्रों की बुनियाद है। वक्ष्यमाण अध्यायों द्वारा यह तथ्य और स्पष्ट हो जायगा।

टिप्पणियाँ एवं सन्दर्भ

१ द्रष्टव्य, आत्मकथा, महात्मा गान्धी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ८६।

२ द्रष्टव्य, The Conception of Spiritual Life in Mahatma

Gandhi and Hindu Saints, रामचन्द्र दत्तात्रय रानडे, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, पृ० ६-९ ।

३ आत्मकथा, पृ० ५ ।

४ वही पृ० ६-७ ।

५ वही पृ० ५ ।

६ वही पृ० ४४३ ।

७ वही अध्याय ६ ।

८ [illegible]तामाला, मोहनदास कर्मचन्द्र गान्धी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० ५४१ ।

९ पन्द्रह अगस्त के बाद, मोहनदास कर्मचन्द्र गान्धी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० १४३ ।

१० यंग इंडिया, १४ अक्टूबर, १९२६ ।

११ Hindu Dharma, महात्मा गान्धी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, पृ० ६२ ।

१२ वही पृ० ६२-६३ ।

१३ प्रार्थनाप्रवचन, भाग एक, मोहनदास कर्मचन्द्र गान्धी, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० १०० ।

१४ Hindu Dharma पृ० ४ ।

१५ Mahatma Gandhi, ed. S. Radhakrishnan, पृ० ३५३ ।

[illegible] वही, पृ० [illegible] [illegible] आरंभ में गान्धी को दार्शनिक या [illegible] नहीं मानते [illegible] । जब गान्धी जी दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर मद्रास गये [illegible] उनसे राधाकृष्णन् से [illegible] संवाद हुआ [illegible] जिससे [illegible] होता है कि युवक राधाकृष्णन् जो उस समय तर्कशास्त्र के अध्यापक थे, युवक मोहनदास कर्मचन्द्र गान्धी से बिलकुल प्रभावित नहीं थे— [illegible]

गान्धी—गाय का दूध मत पियो । [illegible] है ।

राधाकृष्णन्—तब तो हम सभी मनुष्यभक्षी हैं, क्योंकि हम अपनी मां का दूध पीते है जो मानवीय मांस का सार है।

गान्धी—हजारों जीव जंगल मे पैदा होते हैं। उन्हें किसी प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती है।

राधाकृष्णन्—हजारों जीव जंगल में मरते भी हैं।

गान्धी—आप कैसे जानते है ?

राधाकृष्णन्—आप कैसे जानते हैं ?

इस पर एक मध्यस्थ ने गान्धी से कहा कि ये तर्कशास्त्र के अध्यापक हैं। तब संवाद समाप्त हो गया। परन्तु बाद में भारत में गान्धी का प्रभाव ज्यों-ज्यों बढता गया त्यों-त्यों राधाकृष्णन् उनके प्रभाव में आते गये।

१७ रानडे का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ५।

१८ Idealistic Thought of India, पी० टी० राजू, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, पृ० २९२।

१९ द्रष्टव्य राधाकृष्णन् के उपर्युक्त ग्रन्थ में इनके लेख।

अध्याय ३

बुनियादी ज्ञानमीमांसा

१ मानवीय अनुभववाद

गान्धी की ज्ञानमीमांसा बुनियादी ज्ञानमीमांसा है। इसे हम मानवीय अनुभववाद भी कह सकते हैं, क्योंकि इसका विषय उसी प्रकार के अनुभव का विश्लेषण करना है जो मुख्यत. मानवीय है और पाशव, दानव या अतिमानव नहीं है। यदि हम मानवीय अनुभव पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि पांच इन्द्रियां पशुओं में भी हैं और उनसे प्राप्त ज्ञान मुख्यत. मानवीय नहीं कहा जा सकता। मानवीय अनुभव यदि पशुओं के ज्ञान से भिन्न है तो उसके इस विभिन्न अनुभव या ज्ञान का स्रोत भी भिन्न है। यह स्रोत बुद्धि, अन्तरात्मा और शास्त्र है। इन्हीं तीन उत्सों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे गान्धी मानवीय ज्ञान कहते हैं। फिर इस ज्ञान पर जब आचरण किया जाता है, जीवन का निर्माण किया जाता है, उससे लाभ उठाया जाता है, तो उसका नाम अनुभव हो जाता है।

मानवीय ज्ञानमीमांसा को आजकल पश्चिम के देशों में प्रायः पाशविक ज्ञानमीमांसा ही समझा जाता है। वहां मनुष्य और पशु के ज्ञान में सिर्फ मात्रा का भेद किया जाता है, प्रकारता का नहीं। दोनों के सभी प्रकार के ज्ञान प्रत्यक्षजन्य, गोचरमूलक है। कान, नाक, आंख, जीभ और त्वचा से जो ज्ञान हो वही ज्ञान है। ज्ञान का और कोई साधन या स्रोत नहीं है। इसे हम गोचरवाद कह सकते है। आज का मनोविज्ञान या मानसशास्त्र यही गोचरवाद सिखाता है। इसलिए गान्धी ने इसकी आलोचना करते हुए कहा — "बहुत-से मानसशास्त्रियों ने मुझे मनोविज्ञान की किताबें पढ़ने को कहा, लेकिन मन्थन न होने की वजह से मुझे दुःख है कि मैं ऐसा कर नहीं पाया"[१]।



वर्तमान पाश्चात्य मनोविज्ञान के विरोध में योगियों का अगोचरवाद है। इन लोगों का मत है कि सच्चा ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है और उसको प्राप्त करने का साधन भी ईश्वरीय है। वह ज्ञान अगोचर है और वह साधन अलौकिक है।

गान्धी का मत गोचरवाद और अगोचरवाद के मध्य का है। वे अगोचरवाद तथा गोचरवाद दोनों को मानव के लिए त्याज्य समझते हैं। फिर भी वे दोनों को जोड़ने की विचारणा करते हैं। अगोचरवादी ज्ञान वह साध्य है जो सदा दुष्प्राप्य है और गोचरवादी ज्ञान वह ककहरा है जिसका स्वतः कोई अर्थ ही नहीं है। शास्त्र, बुद्धि और अन्तरात्मा से प्राप्त ज्ञान पर ही गोचरवाद की स्थिति, व्याख्या तथा उपयोगिता हो सकती है। इनसे प्राप्त ज्ञान पर यदि व्यवहार या आचरण नहीं हो सकता, यदि इन पर हम अपने गोचरों का भवन नहीं खड़ा कर सकते, तो वह ज्ञान व्यर्थ है। अतः वह ज्ञान यद्यपि गोचरमूलक नहीं होता, तथापि वह गोचरों का आधार है। मानवीय अनुभव गोचरमूलक नहीं होता, गोचर ही मानवीयअनुभवमूलक होते हैं। इस दृष्टि से यह मानवीय अनुभव प्रतिगोचरमूलक (Transcendental) कहा जा सकता है जो काण्ट की ज्ञानमीमांसा का अनुभव है। फिर चूँकि मानवीय अनुभव सदैव असंपूर्ण तथा संभाव्य ही रहता है, नितान्त सत्य या निश्चित नहीं होता, अतः उसे सदैव संशोध्य मानना चाहिए। पर इसके लिए एक ऐसे लक्ष्यभूत ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है जो नितान्त समरूप हो, एकरूप हो, ताकि उससे इसकी सदा तुलना की जाती रहे; इसका मानदण्ड स्थिर रहे, इसमें प्रगति होती रहे और इसका अधःपतन न होता रहे। अतः अगोचरमूलक ईश्वरीय ज्ञान [illegible] ज्ञान का लक्ष्य बनाकर पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं।

जब गान्धी कहते हैं कि बुद्धि इन्द्रियों के अनुसार न चले वरन् इन्द्रियाँ बुद्धि के अनुकूल चलें, अन्तरात्मा व्यवहार के अनुकूल न हो वरन् व्यवहार अन्तरात्मा के अनुकूल हो, शास्त्रीय ज्ञान लौकिक ज्ञान के अनुकूल न माना जाय वरन् लौकिक ज्ञान शास्त्रीय ज्ञान के अनुकूल किया जाय, तब उनका यही मत है। उनके मत से इन्द्रियों के अनुसार बुद्धि को चलाना 'वहशियाना' है[2]। यह दोष है। फिर जो लोग कहते हैं कि उन्होंने 'ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, पूर्णप्रज्ञ हो गये हैं, उनके प्रति गान्धी ने कहा कि वे 'भुलावा दे रहे हैं''[3]। वस्तुतः मानवीय बुद्धि पूर्णप्रज्ञ नहीं हो सकती है, उसकी अज्ञता

नष्ट नहीं हो सकती है। अतः वह सत्य या ईश्वर का साक्षात् दर्शन पूर्णतया नहीं कर सकती है। वह केवल उसकी ओर बढ़ सकती है, पर उसको पा नहीं सकती। इसीलिए गान्धी ने कहा, "मैंने ईश्वर को प्रत्यक्ष नहीं देखा है[४]", मुझे मृत पुरुषों (पितरों) की आत्मा से कभी कोई सन्देश-संकेत नहीं मिला[५]"। "मेरे पास कोई जादू की लकड़ी नहीं है[६]"। "कुछ ऐसी वस्तुएँ अवश्य है, जिन्हें आत्मा ही जानती है और वे आत्मा में ही शान्त हो जाती हैं। पर ऐसी वस्तु का देना मेरे बूते के बाहर है[७]", आदि। और "हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उसका आग्रह करते हैं। इसीसे पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता की स्वीकृति आ गयी। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतन्त्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नहीं है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ सकते हैं[८]।" पर "अपनी सुविधा के लिए आदर्श को गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्श को स्वतन्त्र रूप से जानकर, चाहे वह कितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करने का जी-जान से प्रयत्न करना परम अर्थ है, पुरुषार्थ है[९]।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्श की जानकारी ज्ञान है और उसको यथाशक्ति न्यूनाधिक रूप से आचरण में उतार कर उसकी जानकारी प्राप्त करना अनुभव है। ज्ञान और अनुभव का इस प्रकार विवेक कर लेने पर कहा जा सकता है कि गान्धी किसी अद्वैत प्रतिगोचर वस्तु को जानते थे और उस पर यथाशक्ति अभ्यास करने से उसका उन्होंने अनुभव किया था। ज्ञान की कसौटी अनुभव है। जिस ज्ञान का अनुवाद अनुभव में कुछ न हो सके, वह व्यर्थ है। ज्ञान का पूर्ण अनुवाद अनुभव में होना असंभव है। अतः [illegible] ज्ञान से समान्तर होना ही अनुभव है। गान्धी प्रायः कहते हैं कि [illegible] अनुभव के आधार पर [illegible] रहा [illegible] यहाँ अनुभव का [illegible] है।

अब [illegible] तीन शब्दों अन्तरात्मा, बुद्धि तथा [illegible] का निरूपण किया जायगा।

२ अन्तरात्मा की आवाज

गान्धी अन्तरात्मा से संभाषण करते थे। वे इससे प्रश्न पूछते थे और उनको उत्तर मिलता था। अथवा उनको इससे आदेश मिलता था और वे उसका पालन करते थे। इस संभाषण की दो घटनाएँ उनके जीवन मे घटी थी। एक १९३३ मे और दूसरी १९३८ में। दोनों का सम्बन्ध छुआछूत-निवारण से था। दोनों अवसरों पर गान्धी को आदेश मिला कि वे अमुक दिन से अमुक दिन तक २१ दिन का उपवास अछूतो की समस्या को सुलझाने के लिए करे। इन अवसरो पर गान्धी की अन्तरात्मा की पुकार की चर्चा दुनिया भर में थी। पहली बार का वर्णन यो है—"हरिजनों का स्वतंत्र या पृथक् निर्वाचक मंडल करने के लिए ब्रिटेन के प्रधान मंत्री रैमजे मैकडानल्ड ने जो निर्णय दिया था, उसके विरोध मे गान्धी ने १९३३ में ८ मई दोपहर से २९ मई दोपहर तक २१ दिन का उपवास किया। देश भर में उक्त निर्णय से हलचल मची थी। कुछ नेता उसके पक्ष में थे, कुछ विपक्ष मे। हरिजनो के सुधार तथा उत्थान के लिए गान्धी के हृदय में भी कई दिनों पूर्व से हलचल मची थी। वे उसका सामना कर रहे थे। पर वे रैमजे मैकडानल्ड के निर्णय के विरोधी थे और चाहते थे कि उसका तगडा विरोध होना चाहिए। पहली मई को उनकी अन्तरात्मा से एक जबरदस्त आवाज उठी, "तुम इसे क्यों नही करते हो।" उन्होंने इसका विरोध किया जो विफल हो गया। अन्त में उन्हे २१ दिनो का बिना किसी शर्त का अखण्ड उपवास करने का संकल्प करना पडा। उनका यह उपवास अपनी आत्मशुद्धि के लिए था, मित्रों की आत्मशुद्धि के लिए था, समाज की आत्मशुद्धि के लिए था। इस उपवास के फलस्वरूप देश भर मे उनके समर्थक तथा विरोधी नेताओं ने गान्धी को आश्वासन दिया कि वे हरिजनो के पृथक् निर्वाचक मंडल [illegible] निर्णय का विरोध करेंगे। निर्णय का विरोध हुआ और यह विरोध सफल हुआ। इस अवाज को गान्धी अन्तर्नाद, ईश्वर की आवाज, सत्य की आवाज, अन्तरात्मा (Conscience) की आवाज या शान्त धीमी आवाज कहते थे। कभी कभी वे इसे अपनी छठी इन्द्रिय (Sense) कहते थे, "जब किसी अवसर पर इसके इस्तेमाल की माग उठती है, मेरी छठी इन्द्रिय जग जाती है और अपना काम करके फिर सो जाती है[१०]"।

कितनी ही बार गान्धी को अपना यह अन्तर्नाद सुनाई पड़ा था। जिस

साधन या उत्स से यह निकलता है उसे कभी-कभी वे कान्शंस (अन्तरात्मा) और कभी-कभी ईश्वर कहते हैं। उनका मत है कि "हमारे वैदिक धर्म के मुताबिक कान्शंस सभी में (जड़-चेतन में) होता है। पर बहुतों का कान्शंस सोया हुआ रहता है, अर्थात् उनकी अन्तरात्मा मूढ़ अवस्था में होती है। तो उस अवस्था में उसे कांशंस कैसे कहा जाय? हमारे धर्म के अनुसार मनुष्य की अन्तरात्मा तब जाग्रत् होती है जब यम-नियमादि का पालन और दूसरी भी बहुत-सी चेष्टा आदि करें[११]।" और "हम यह नहीं मानते कि प्रत्येक व्यक्ति के कान्शंस होता है। पश्चिम में यह मानते हैं। व्यभिचारी के लिए, लंपट के लिए, कांशंस क्या हो सकता है?.................हमारे ऋषि-मुनियों ने कहा है कि अन्तर्नाद सुनने के लिए अन्तर्कर्ण भी चाहिए, अन्तर्चक्षु भी चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए संयम की आवश्यकता है। इसलिए पातञ्जल योगदर्शन में योगाभ्यास करने वालों के लिए, आत्मदर्शन की इच्छा रखने वालों के लिए, पहला पाठ यम-नियमादि पालन करने का बताया है[१२]।"

इन अवतरणों से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं :—

(१) गान्धी को अन्तरात्मा से कुछ ज्ञान मिलता था।

(२) यह अन्तरात्मा मनुष्य की सच्ची आत्मा है। यही अन्तर्यामी ईश्वर है। यही सर्वत्र जड़-चेतन में व्याप्त है। पर यह सर्वत्र स्फुट नहीं है।

(३) यह ज्ञान केवल शब्द ही का नहीं वरन् रूप आदि का भी है। इस प्रसंग में अन्तर्कर्ण और अन्तर्चक्षु का प्रयोग इसी हेतु से किया गया है। कभी गान्धी कहते हैं कि उन्हें ईश्वर के सान्निध्य का स्पर्श हुआ है। इसको हम समझ सकते हैं कि यह इसी अन्तरात्मा का स्पर्शज्ञान है। तात्पर्य यह है कि अन्तरात्मा चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना और त्वक् इन पाँच इन्द्रियों से पृथक् छठीं इन्द्रिय है और पाँचों इन्द्रियों के रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श का ज्ञान दे सकती है।

(४) यह ज्ञान नैतिक भी है। यह कर्त्तव्य का बोधक है और अकर्त्तव्य का निवारक है।

(५) यह ज्ञान नितांत सत्य ही है। यह प्रमा है।

(६) यह, संयम द्वारा, आत्मशिक्षण द्वारा, यम-नियमादि के पालन से उपलब्ध होता है और हो सकता है। जो संयम नहीं करता, उसे इसकी प्राप्ति

नही हो सकती है। व्यभिचार से, असंयम से, यह इतना मन्द हो जाता है कि इसके अस्तित्व का भी भान नहीं होता है। अतः व्यभिचारी पुरुषों मे अन्तरात्मा का अस्तित्व होते हुए भी माना नही जा सकता है।

(७) सभी संयमी पुरुषों को यह ज्ञान हो सकता है। यह कोई गान्धी की ही विशेषता नहीं है। जो एक के लिए शक्य है वह सब के लिए शक्य है"[१२]।

(८) यह ज्ञान अहैतुक आदेश (Categorical Imperative) हैं, इसका पर्यवसान संकल्प तथा निश्चित कर्म मे होता है। इस ज्ञान के अनन्तर इसके आदेशानुसार कर्म करना पड़ता है और उसे पूर्ण रूप से निबाहना पड़ता है।

(९) अन्तरात्मा साक्षात् आत्मा है। यह बुद्धि नही है। बुद्धि इसका ही अनुसरण करती है।

(१०) यह ज्ञान स्फुरण है।

(११) इसकी प्राप्ति के पूर्व हृदय-मन्थन होता है, हलचल होती है, और इसकी प्राप्ति के पश्चात् प्रसन्नता, आनन्द तथा अविचलता की अनुभूति होती हैं।

यद्यपि यह सब स्पष्ट था, तथापि उक्त उपवास के अवसर पर जब गान्धी ने कहा कि उन्हें अन्तरात्मा से ज्ञान मिला है, तो बहुतो को उलझन हुई और उन्होने उनसे प्रश्न किया। गान्धी ने सब का उत्तर यों दिया—

"वह क्या थी ? मैंने क्या सुना ? क्या मैंने किसी पुरुष को देखा ? यदि नहो, तो आवाज मुझ तक कैसे आई ? ये प्रसंग-प्राप्त प्रश्न हैं।

"मेरे लिए ईश्वर की आवाज, अन्तरात्मा की आवाज, सत्य की आवाज, अन्तर्नाद या शान्त धीमी आवाज, सब का एक ही अर्थ है। मैंने कोई आकार नही देखा। मैंने ऐसा करने का कभी प्रयास भी नहीं किया, क्योकि मैंने सदा विश्वास किया है कि ईश्वर निराकार हैं। किन्तु जिसे मैंने जरूर सुना था, वह सुदूर तथा अत्यन्त समीप की आवाज की तरह थी। यह उसी तरह भ्रान्तिमुक्त थी जैसे कोई मानवीय आवाज मुझसे निश्चित रूप से बोलती है। यह अत्याज्य थी। जिस समय मैंने आवाज को सुना उस समय मैं सपना नही देख रहा था। इस आवाज के सुनने के पहले मेरे अन्दर भयंकर संघर्ष हुआ था। अचानक आवाज मेरे पास आयी। मैंने सुना, निश्चय किया कि अन्तर्नाद ही है और तब संघर्ष शान्त हुआ। मैं शान्त हुआ। मैंने तदनुकूल संकल्प किया, उपवास की तिथि तथा घण्टों को निश्चित किया। आनन्द

मुझमें छा गया। यह ११ और १२ बजे के बीच अर्धरात्रि में हुआ। मुझे नई शक्ति मिली। मैं इसके बारे में नोट बनाने लगा।..........

"क्या मैं कुछ और साक्ष्य दे सका कि मैंने जो सुना वह सच्चा अंतर्नाद था और वह मेरी ही प्रचण्ड कल्पना की प्रतिध्वनि न थी? संदेह करने वाले को सन्तुष्ट करने के लिए मेरे पास और कोई साक्ष्य नहीं है। वह यह कहने में स्वतन्त्र है कि यह सब आत्मवंचना या प्रतिभास (Hallucination) था। यह ऐसा अच्छी तरह से हो सकता है। इसके विरोध में मैं कोई दलील नहीं दे सकता। किन्तु मैं यह कह सकता हूं कि मेरे खिलाफ समस्त संसार का एकस्वर से निर्णय भी मुझे अपने इस विश्वास से हिला-डुला नहीं सकता कि मैंने जो सुना वह ईश्वर की सच्ची आवाज है।

"किन्तु कुछ लोग सोचते हैं कि स्वयं ईश्वर हमारी ही कल्पना की कृति है। यदि यह मत सत्य है तो कोई चीज सत् नहीं है, हर चीज हमारी कल्पना में ही है। इतने पर भी, जब तक मेरी कल्पना मुझ पर आधिपत्य रखती है, तब तक मैं इसके जादू के वश सिर्फ काम कर सकता हूं। सबसे सत् वस्तुएँ केवल अपेक्षया ही सत् हैं। मेरे लिए यह आवाज, अन्तर्नाद, मेरे अपने अस्तित्व से अधिक सत् थी इसने कभी मेरा संग नहीं छोड़ा, और इसी तरह, किसी अन्य का भी कभी संग नहीं छोड़ा।

"हरेक आदमी जो इच्छा करता है, इसको सुन सकता है। यह प्रत्येक में है। किन्तु अन्य सभी वस्तुओं की तरह इसके लिए भी पूर्व तथा सुनिश्चित तैयारी (संनद्धता) की अपेक्षा है"[१४]।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि गान्धी अन्तरात्मा से उसी वस्तु को समझते थे जिसे अद्वैतवादी आत्मा या ब्रह्म कहते है। अन्तरात्मा की आवाज वस्तुतः आत्मज्ञान की झलक है जो सब को प्रयत्न करने पर मिल सकती है। उनका अन्तर्नाद रहस्यवादी कबीर का अनाहत नाद (अनहद नाद) नहीं है। यह रहस्य या गुह्य नहीं है। यह बुद्धिगम्य है, सर्वसुलभ है।

[illegible] ने [illegible] प्रश्न को उठाते हुए कहा, "क्या गान्धी को ईश्वर से जवाब मिलता था? नहीं और हां। नहीं, क्योंकि गान्धी अत्यन्त [illegible] कोई बात नहीं सुनते हैं। हां [illegible] होती है [illegible] व्यक्ति की-सी तृप्त तथा स्पष्ट [illegible] जवाब उनको

मिलता है वह इतना अधिक युक्तियुक्त होता है कि उसके स्वरूप से ही वे जान जाते हैं कि वे स्वप्न तथा प्रतिभास के शिकार नहीं हैं[१५]।

पुनश्च डा० रानडे ने गान्धी के अन्तर्नाद के सिद्धान्त पर रहस्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार पर्याप्त विचार किया है। उनके अनुशीलन के अनुसार गान्धी के अन्तर्नाद तीन कोटि के हैं—(१) अन्तरात्मा की आवाज सुनना, (२) अन्तरात्मा की आवाज सुनना, पर उसके शब्दों का ज्ञान न होना और (३) अन्तरात्मा की आवाज सुनना तथा उसके शब्दों को भी अच्छी तरह से जानना अर्थात् अन्तरात्मा से संभाषण करना, उसकी आवाज को भली-भाँति स्पष्टतापूर्वक सुनना। १९३३ और १९३८ में गान्धी ने तीसरी कोटि का अन्तर्नाद सुना था। १९४० और १९४८ में उन्होंने दूसरी कोटि का अन्तर्नाद सुना। सन् १९२१, १९२५, १९३३, १९३६ आदि में उन्होंने प्रथम कोटि का अन्तर्नाद सुना। इन तीन कोटियों में तारतम्य है। प्रत्येक सान्द्रता और दीर्घता के तारतम्य में है। सबसे पहले गान्धी को बहुत ही अस्पष्ट तथा मन्द आवाज सुनाई पड़ती थी। ज्यों-ज्यों इसको सुनने का उनका प्रयत्न बढ़ता गया, त्यों-त्यों वे इसको अधिक स्पष्टतापूर्वक सुनते गए[१६]। डा० रानडे का कहना है कि यद्यपि गान्धी कभी-कभी रहस्यमय चक्र देखते हैं,[१७] कभी-कभी ज्योतिस्तम्भ देखते हैं[१८], तथापि वे द्रष्टा की अपेक्षा श्रोता अधिक हैं[१९]। द्रष्टा, स्प्रष्टा और श्रोता—सभी दार्शनिक हैं, रहस्य के ज्ञाता हैं। ज्ञान चाहे दृष्टि से हो, चाहे श्रवण से, दोनों का मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और रहस्यवादी मूल्य एकसमान ही है। दर्शन, स्पर्शन, संभाषण सभी वास्तव में दर्शन ही हैं। हमारे यहाँ दर्शन का अर्थ केवल 'दर्शन या दृष्टि' ही नहीं वरन् स्पर्शन, श्रवण, संभाषण, घ्राण, रसन भी है। दर्शन वस्तुतः इन सब का अर्थ देता है। गान्धी अन्तर्नाद के अन्तर्गत सब को शामिल करते हैं। डा० रानडे ने अन्तर्नाद की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए कहा कि अनुभव की सफलता, बुद्धि की स्थिरता तथा श्रुत शब्दों की परमार्थ के साथ योजना—ऐसी कसौटियाँ हैं जो सिद्ध करती हैं कि अन्तर्नाद का श्रवण-संभाषण मिथ्या भ्रम नहीं है[२०]।

इस प्रकार जहाँ डा० राधाकृष्णन् गान्धी के अन्तर्नाद को संभव और असंभव दोनों बताते हैं वहाँ डा० रानडे उसकी असंभावना का निराकरण कर देते हैं, और उसे संभव ही नहीं वरन् पूर्णतया उपलब्ध मानते हैं।

डा॰ राधाकृष्णन् अन्तर्नाद के श्रोता की मनोवैज्ञानिक मुद्रा को महत्त्व देते प्रतीत होते हैं तो डा॰ रानडे अन्तर्नाद को श्रोता से स्वतंत्र मानते हुए उसको विषयगत सिद्ध करते है और कहते है कि यह नाद सदा होता रहता है—"अन्तः प्रवर्तत सदा निनाद"[२१]—चाहे कोई सुने या न सुने। डा॰ रानडे गान्धी के शब्दों को सत्य मानते हैं[२२] और इस कारण वे उनके उक्त अन्तर्नाद की ठीक व्याख्या करते हैं। अन्य लोग गान्धी को उतना बड़ा रहस्यवादी मानने को तैयार नहीं हैं। पर यह गान्धी के शब्दों का अनर्थ करना है। डा॰ रानडे की व्याख्या सही समझी जा सकती है बशर्ते कि हम इसको ठीक तरह से समझें। यदि हम अन्तर्नाद करने वाली अन्तरात्मा को बिरले पुरुषों में ही मानें और सर्वसाधारण में इसके अस्तित्व का ही प्रत्याख्यान करें, तब डा॰ रानडे की व्याख्या का अनर्थ होगा और इस हालत में वह त्याज्य है। इसे समझने के लिए यह जानना अनिवार्य है कि यह सर्वसुलभ है, यह सकल अनुभवों की आधारभूत शिला है और अस्पष्ट रूप से सबके "मैं हूँ", "मेरा यह कर्त्तव्य है", इन अनुभवों में प्रकट रहती है। ऐसा समझ लेने पर हम कह सकते हैं कि अन्तरात्मा की आवाज सूझ, अन्तर्दृष्टि या प्रतिभा से प्राप्त प्रातिभज्ञान (Intuitive knowledge) है। यह आत्मा का अपना अपरोक्ष तथा अव्यवहित ज्ञान है। इसी का बुद्धि अनुवर्तन करती है। अतः यद्यपि यह ज्ञान बौद्धिक है अर्थात् युक्तियुक्त है तथापि यह बुद्धि द्वारा ज्ञात नहीं होता है। बुद्धि इसकी प्रामाणिकता का खण्डन नहीं कर सकती, क्योंकि वह स्वयं इसी पर अवलंबित है। आधार-स्वरूप इस ज्ञान के खण्डन पर तो बुद्धि का ही खण्डन हो जायगा, नींव गिर जाने पर कहीं घर खड़ा रह सकता है? इसीलिए यद्यपि गान्धी बौद्धिक ज्ञान को सदैव अपूर्ण तथा संभाव्य ही मानते हैं, तथापि वे इस आत्मीय ज्ञान को संपूर्ण, सुनिश्चित और अकाट्य मानते हैं। बेलियल के मास्टर, आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक लिण्डसे का इस विषय पर गान्धी जी से [illegible] बड़ा विवाद हुआ। [illegible] के साथ आक्सफोर्ड के अन्य दार्शनिक श्री [illegible] ने बारम्बार निवेदन किया कि "[illegible] के नाम पर मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप सोचें कि [illegible] आप भ्रान्त हो सकते हैं। श्रीमान् गान्धी! इसे सम्भाव्य समझिए कि आप भ्रान्त हो सकते हैं"[२३]। परन्तु इससे गान्धी ने तनिक भी ढिलाई न की। सारी मानवता ही चाहे क्यों न उनके खिलाफ तर्क करे, वे अपने आत्मज्ञान को संभाव्य

नहीं मान सकते थे। तर्क द्वारा वे सदा उत्तर देते रहे कि यद्यपि अन्य समस्त ज्ञान संभाव्य है, पर यह आत्म-ज्ञान नितांत सत्य है। अतः जब वे एक ओर कहते हैं कि मानवीय बुद्धि सदैव अपूर्णता तक ही सीमित है और दूसरी ओर कहते हैं कि आत्मज्ञान नितांत सत्य है, संपूर्ण सत्य है, अकाट्य है, तो विरोध नहीं है। जैसे डेकार्ट तथा काण्ट और शंकर आत्मा को असंदिग्ध तथा नितांत निश्चित सत् मानते हैं वैसे गान्धी भी अपने अन्तर्नाद, आत्मज्ञान को नितांत सत् मानते हैं। जैसे किसी विशिष्ट शास्त्र की आधारभूत स्वयं-सिद्धियाँ या मान्यताएं उस शास्त्र के लिए नितांत सत्य होती हैं, वैसे बुद्धि के सकल प्रपंच के लिए उसके आधारभूत आत्मज्ञान को गान्धी नितांत सत्य मानते हैं।

यहाँ लोग शंका कर सकते हैं कि डेकार्ट, काण्ट तथा शंकर आदि ने तो सर्कत आत्मा की अखण्डनीयता तथा सर्वमान्यता सिद्ध की, पर गान्धी ने तो उसे अपने कर्मक्षेत्र मे सीखा और कर्म द्वारा ही अखण्डनीय तथा सर्वमान्य सिद्ध करने की कोशिश की। यह शंका काफी दुरुस्त है। इसका उत्तर यह है कि गान्धी अपनी आत्मा के अस्तित्व का सम्पूर्ण ज्ञान कर्म-क्षेत्र में ही पाते हैं। जैसे योगी समाधि मे आत्मा को जानता है, तार्किक तर्क में जानता है, भक्त भक्ति मे जानता है, आधुनिक अस्तित्ववादी रुग्णावस्था तथा दुःख में जानते हैं, प्राचीन कर्मकाण्डी यज्ञादि में जानते थे, वैसे गांधी अपनी आत्मा के अस्तित्व का संपूर्ण ज्ञान सामाजिक कर्म करते-करते जानते थे। यह उनके दर्शन की अपनी विशेषता है। इस तथ्य को समझ लेने पर फिर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे क्यो आत्मज्ञान को अन्तरात्मा की पुकार या आवाज या अन्तर्नाद कहते थे? जो लोग इस प्रणाली को न समझेंगे वे कहेंगे कि अन्तर्नाद, अन्तरात्मा, आत्मा और परमात्मा सभी परस्पर भिन्न वस्तुएँ है और गान्धी ने सब को अभिन्न करके 'गोरखधन्धा' खड़ा कर दिया है। जितना ही बड़ा भयंकर सामाजिक काम करने को कोई व्यक्ति मनसा वाचा कर्मणा बीड़ा उठाता है, उसको उतना ही अधिक ज्ञात होता है कि नीतिज्ञों की अन्तरात्मा (कान्शंस), भक्तों का परमात्मा, दार्शनिकों की आत्मा तथा योगियों का अन्तर्नाद कर्म की दृष्टि से एक ही वस्तु के विभिन्न नाम है। मूलतत्त्व आत्म-ज्ञान है। जो व्यक्ति अपने को जितना ही अधिक संयमी बनाता है, अपने संकल्प को जितना ही अधिक प्रबल और अकाट्य बनाता है और उस पर जितनी अधिक लगन से सतत कर्म करने का व्रत लेता है, उसे उतना ही

अधिक गाधा की अन्तरात्मा का अन्तर्नाद सुनने म आ सकता है ।

अन्तरात्मा अनिवार्यत. कर्मोन्मुख है यद्यपि वह प्रधानतः ज्ञान-स्वरूप है । अतः कर्मठता से ही उसका सच्चा ज्ञान संभव है[२०] ।

अन्तरात्मा को ही, गान्धी कभी-कभी दिल या हृदय कहते है । अन्तःकरण या अन्तस्तल भी इसी का अपर नाम है । यह भावनामय होता है । अतः इसको कभी-कभी वे भावना भी कहते हैं । भावनाएँ मौलिक, विकृत तथा सम्मिलित—तीन प्रकार की मानी जाती हैं । सामान्यतः सभी भावनाओं या वेदनाओं मे प्रवित्तियाँ रहती हैं, संवेद रहता है: ज्ञान रहता है । यही प्राथमिक ज्ञान है । इनके अभाव मे अन्य प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व ही संदिग्ध है । सभी भावनाओं में आत्म-भावना, आत्म-प्रतीति या आत्म-प्रत्यक्ष निहित रहता है । पर मौलिक भावनाओं में वह साधारण रूप से स्फुट रहती है, विकृत या दूषित भावनाओं में बिल्कुल अस्पष्ट रहती है और सिर्फ संयमित भावनाओं में ही पूर्णतया प्रकाशित होती है । अत सामान्यत. सभी पुरुषों को अपनी मौलिक भावनाओं में, वेदनाओं में, आत्म-दर्शन हो सकता है । पर सच्चा आत्मदर्शन, अन्तर्नाद, तो तब होगा जब संयमित भावनाओं की अन्तर्यामी भावना का दया के द्वारा आत्म-प्रत्यक्ष होगा । यही दया, भूतदया, जीवदया, या करुणा ज्ञान कराती है । सच्चा ज्ञान अद्वैत भावना है जो दया या भूतदया से ही विदित होती है । इसीलिए कहा गया है कि दया के समान कोई ज्ञान नहीं है—न दयासदृशं ज्ञानम् और यही दया परम धर्म है—न च धर्मो दयापर. । पर इस प्रकार दया में ज्ञान तथा धर्म की एकता हो जाने से इस की आवाज को अन्तरात्मा अर्थात् सदसद्विवेक की अकाट्य आवाज कहना ठीक ही है ।

श्रीमती हाड-मार्टिन को गान्धी ने बतलाया—"यह ठीक है कि समस्त जीवन में मूलभूत एकता है; लेकिन विभिन्नता भी है । हमारा काम है कि उस विभिन्नता में प्रवेश करके उसके अन्दर [illegible] एकता [illegible] लगायें; लेकिन [illegible] नहीं, जैसा कि आप [illegible] करने की कोशिश कर रही है । [illegible] वह अन्तर भी जरूर [illegible] इसी तरह [illegible] प्रकाश- [illegible] होगी । जब तक [illegible] और [illegible] नहीं, बल्कि शरीर का भी सर्वथा उत्सर्ग न कर दें तब तक आप इस व्यापक ज्ञान की अनुभूति नहीं कर सकतीं"[२८] ।

इस पर व्याख्यान करते हुए महादेव देसाई का ध्यान असीसी के सन्त फ्रांसिस के इन महान् शब्दों पर गया—"प्रकाश ने देखा और अन्धकार लुप्त हो गया। प्रकाश ने कहा "मैं वहाँ जाऊँगा?" शान्ति ने कहा "मैं वहाँ जाऊँगी।" प्रेम उदित हुआ और घृणा उड़ गयी। प्रेम ने कहा "मैं वहाँ जाऊँगा[२६]"। देसाई का कहना है कि "यह बात सूर्य-प्रकाश की भाँति स्वयं फैलकर हमारे अन्तर में प्रवेश कर गयी[२७] अर्थात् उनकी समझ में इसकी सत्यता आ गयी।

वस्तुतः गान्धी के इस विशेष ज्ञान को बहुत रहस्यात्मक ढंग से व्यक्त करने के बजाय यदि देसाई उसे सर्वसाधारण मानवों के अनुभव के आधार पर अभिव्यक्त करते, तो उनकी विवृत्ति दूसरी ही होती।

रायचन्द्र भाई के प्रति लिखते समय गान्धी ने कहा कि उनमें दया बहुत थी। दया से उनका हृदय इतना आर्द्र हो जाता था कि वे उसमें अपना अस्तित्व तो देखते ही थे, साथ ही औरों का भी अस्तित्व वे उसी में देख लेते थे। जिसने दया के उद्रेक का अनुभव किया वह अपने को पहचाने बिना कैसे रह सकता है? फिर वह औरों से अपना भेद कैसे कर सकता है? वह तो सब में अपने को देखेगा। इस प्रकार दया से अद्वैत-तत्त्व को समझा जाता है। परम कारुणिक गौतम बुद्ध तथा अहिंसक गान्धी ने भी इसी के माध्यम से समझे गये ज्ञान को बुनियादी ज्ञान कहा। इसमें कर्म, भावना तथा ज्ञान तीनों की त्रिविधता होने पर भी विचित्र एकता या अद्वितीयता रहती है जिसे सर्वसाधारण कारुणिक या दयालु जन भी किसी-न-किसी मात्रा में अनुभव कर सकते हैं।

गान्धी जब कहते हैं कि उन्हें अन्तर्नाद या आत्मप्रकाश मिल रहा है तो वे इसी दया की आर्द्रता में तर होते हुए अपने को अनुभव करते हैं।

अन्तरात्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान की विशेषता है कि वह अपना ज्ञापक या बोधक तथा प्रमाणकर्त्ता दोनों है। हमारा हृदय जब कोई ज्ञान देता है तो वह उसके साक्ष्य को भी उसी समय देता है। वह ज्ञान अन्य सभी प्रकार के ज्ञानों का मानदण्ड है। जब उनकी प्रामाणिकता को हृदय मान ले, मन या हृदय गवाही दे दे, तभी उन ज्ञानों को हम प्रामाणिक मान सकते हैं। जब तक हृदय गवाही न दे तब तक केवल बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान को सत्य नहीं कहा जा सकता।

३ बुद्धि

हृदय के ज्ञान का निरूपण करते समय गान्धी ने ऊपर बुद्धि के उत्सर्ग की चर्चा की है। इस पर कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है कि बुद्धि का महत्त्व गान्धी के लिए कुछ नहीं था। पर बात यह नहीं है। हृदय के ज्ञान को बुद्धि से स्वतन्त्र या निरपेक्ष दिखलाने के लिए उन्होंने वहाँ उसका उस प्रकार उल्लेख किया। हृदय का ज्ञान बुद्धि मात्र की सहायता या माध्यम से कदापि नहीं मिल सकता। पर इसका यह आशय नहीं कि बुद्धि का ज्ञान नितांत अनुपयोगी है।

बुद्धि का अपना महत्त्व है। "बुद्धि की अपनी जगह तो है ही, लेकिन उसे हृदय की जगह पर नहीं बैठना चाहिए। आप अपने जीवन या किसी भी पहचान के बुद्धिशाली आदमी के जीवन के किन्हीं चौबीस घन्टों को जाँच कर देखेंगे, तो आपको मालूम होगा कि उस समय में किये हुए करीब सभी काम भावना से किए गये होंगे, बुद्धि से नहीं। इससे यह नसीहत मिलती है कि बुद्धि का एकबार विकास हो जाने के बाद वह अपने स्वभाव के अनुसार अपने-आप ही काम करती रहती है, और अगर हृदय शुद्ध हो तो जो कुछ वहमभरा या अनीतिमय हो, उसे वह छोड़ देती है। बुद्धि एक चौकीदार है और अगर वह अपने दरवाजे पर सदा जाग्रत और अटल हालत में रहे, तो कहा जा सकता है कि वह अपनी जगह पर है।........जीवन यानी कर्त्तव्य यानी कर्म, जब बुद्धि से, तर्क से, कर्म को खतम कर दिया जाता है, तब वह दूसरे की जगह लेने वाली बन जाती है और ऐसी बुद्धि को हटाना जरूरी है[२८]।"

इससे स्पष्ट है कि हृदय या भावना का क्षेत्र कर्म है और बुद्धि का क्षेत्र उस कर्म का समर्थन करना है, उसकी चौकीदारी करना है। यदि बुद्धि हृदयोत्थित कर्म को [illegible] करती है, या उस भाव को खंडित करती है तो वह [illegible] बुद्धि [illegible] त्याज्य है। इस प्रकार गान्धी के मत से बुद्धि कर्म-संन्यास की शिक्षा देती है तो वह गलत करती है। हाँ, वह कर्म-संन्यास का [illegible] के लिए और हृदयोद्भूत कर्म का समर्थन करने के लिए कर्मफलत्याग का सिद्धान्त निष्काम कर्मवाद [illegible] निकाल सकती है।

अतः प्रथम हृदय और फिर बुद्धि। प्रथम सिद्धान्त और फिर प्रमाण।

प्रथम स्फुरण और फिर उसके अनुकूल तर्क। प्रथम कर्म और फिर बुद्धि। इसलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गयी है[२८]।" बुद्धिः कर्मानुसारिणी।

बुद्धि तर्क-वितर्क करती है। उसके पास पाँच इन्द्रियों की जमात है। उसका वह नेतृत्व करती है। इन्द्रियों से उसको अपने तर्क-वितर्क, अनुमान-प्रमाण की सामग्री मिलती है। इन्द्रियों के विषयों को वही जानती है, वही अर्थ करती है, वही उसका नियोजन-वियोजन करती है। बुद्धि अपना व्यापार न करे तो इन्द्रिय-ज्ञान असंभव हो सकता है।

इससे यह न समझना चाहिए कि बुद्धि इन्द्रिय-प्रदत्तों पर ही निर्भर है, या उनका ही संचालमात्र है। बुद्धि का अपना स्थान है। वह भावना और इन्द्रिय-प्रदत्त के मध्य में रहती है। दूसरे शब्दों में, उसके दो आधार हैं, भावना या हृदय और इन्द्रिय-प्रदत्त। यदि वह भावनानुकूल चलती है तो वह अपना काम ठीक करती है तब उसको हम बुद्धि, सद्बुद्धि या व्यावसायात्मिका बुद्धि कहते हैं। और यदि वह भावना के आधार को बिलकुल भुला देती है और इन्द्रियप्रदत्तों के अनुकूल ही चलती है तो वह अनेक, अनन्त, हो जाती है। तब उससे हमें निश्चित सत्य नहीं मिल सकता है। तब वह दुर्बुद्धि या कुबुद्धि हो जाती है। गान्धी ऐसी बुद्धि को 'वासना' कहते थे[३०]। व्यवसायात्मिका बुद्धि इन्द्रियप्रदत्तों को भावनानुकूल बनाती है। वासना खुद अपने को ही इन्द्रियायों के अनुकूल बनाती है। जैसे असंयमी, अयुक्त पुरुष के हृदय में स्फुरण नहीं होता, भावना नहीं होती, वैसे उसकी बुद्धि भी नहीं होती है। नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना[३१]। बुद्धिवादी बिनोबा भावे ने गीता की इस पंक्ति को यों समझकर बताया "नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाबुद्धस्य भावना—संयम के बिना बुद्धि नहीं और बुद्धि के बिना भावना नहीं ऐसा वाक्य यहाँ होना चाहिए था[३२]"। पर उनकी सूझ गान्धी के सिद्धान्त के साथ मेल नहीं खाती है। गान्धी का कहना है कि बिना संयम के भावना नहीं हो सकती है यद्यपि बिना बुद्धि के हो सकती है। हाँ, बुद्धि भी बिना संयम के नहीं हो सकती है। अतः गीता की पंक्ति बिनोबा भावे की पंक्ति से कदाचित अधिक सारगर्भित है। ऐसा करके बिनोबा ने बुद्धिपक्ष की महत्ता तथा अपनी कलामर्मज्ञता सिद्ध की है तो गीता और गान्धी ने तत्त्वज्ञान में भावना-पक्ष की महत्ता स्थापित की है। यहाँ स्मरण रहे कि भावना का अर्थ वही आत्म-भावना या आत्म-प्रत्यक्ष है जिसका हम अन्तरात्मा के नाम से निरूपण कर चुके हैं। इस भावना में विश्वास करना श्रद्धा है। बुद्धि संयमी पुरुष को ही

मिल सकती है। यह केवल पुस्तकीय ज्ञान से नहीं मिलती। इससे संयम करना जरूरी है, यम नियमादि का पालन आवश्यक है।

बुद्धि के विकास के बारे में गान्धी का कहना है कि "ज्यों-ज्यों श्रद्धा बढ़ेगी, त्यों-त्यों बुद्धि बढ़ेगी। गीता तो यह सिखाती मालूम देती है कि बुद्धि-योग ईश्वर कराता है। श्रद्धा बढ़ाना हमारा कर्तव्य है। यहाँ श्रद्धा और बुद्धि का अर्थ समझना रहता है। यह समझ भी व्याख्या करने से नहीं आती बल्कि सच्ची नम्रता के विकास करने से आती है। जो यह मानता है कि वह सब कुछ जानता है वह कुछ नहीं जानता। जो मानता है कि वह कुछ नहीं जानता उसे यथासमय ज्ञान प्राप्त हो जाता है[३३]।" तात्पर्य यह है कि बुद्धि को नम्र होना चाहिए। अहंकार उसका दोष है। आत्मज्ञान का समर्थन करना उसका एकमात्र कार्य है। उसका नाश नहीं होता है; आत्मज्ञान में सिर्फ उसका लय होता है, मिलन होता है।

गान्धी को राजनीति तथा कूटनीति का कटु अनुभव था। दक्षिण अफ्रीका और भारत में उन्होंने देख लिया था कि एक ही प्रश्न पर लोग विभिन्न मत देते हैं और अपने मत के लिए विभिन्न तर्क पेश करते हैं। सबको विश्वास रहता है कि उनके तर्क सही हैं। पर सबके तर्कों में इतनी विषमता रहती है कि वे लोग अपने-अपने तर्कों को अपने प्रतिपक्षियों से मनवा नहीं पाते, इससे उन्हें रोष और असन्तोष होता है। "इसका अनुभव किसको नहीं हुआ होगा कि हमारी अन्तर्वृत्ति जैसे बनी हो वैसी ही दलीलें हमें सूझा करती हैं और वे दूसरे के गले न उतरें तो हमें असन्तोष, अधीरता और अन्त में रोष भी होता है[३४]"। अतः गान्धी चाहते हैं कि "पाठक भिन्न-भिन्न दृष्टियों को समझें और जो अब तक वैसा न करते आये हों वे भिन्न-भिन्न दृष्टियों को समझने और उनका आदर करने की आदत डालें। सत्याग्रह का रहस्य समझने और खासकर इस अस्त्र को अजमाने के लिए ऐसी उदारता और ऐसी सहनशक्ति की अति आवश्यकता है इसके बिना सत्याग्रह हो ही नहीं सकता[३५]।"

गान्धी जैनियों के स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद के अध्ययन से शिक्षा ली थी कि किसी विषय के बारे में अनेक दृष्टियाँ संभव हैं। उन सात अन्धों की कहानी को वे बहुत पसन्द करते थे जिन्होंने एक ही हाथी का विविध वर्णन किया था और प्रत्येक का वर्णन सही और गलत दोनों था। "हर बात कम

से कम सात दृष्टियों से देखी जा सकती है और उन दृष्टियों से वह बात सच्ची होती है। पर सब दृष्टियाँ एक ही समय में और एक ही मौके पर सही नहीं हुआ करती[२६]।" स्पष्ट है कि यहाँ जैनियों के सप्तभंगिनय का तात्पर्य है।

इससे स्पष्ट है कि बौद्धिक क्रिया का प्रचुर विकास गान्धी को इष्ट था। बिना बुद्धि के पर्याप्त विकास के विभिन्न दृष्टियों को समझना और अन्त में एकवाक्यता को हृदयंगम करना असंभव है। जो बात वे गीता को समझने के विषय में कहते हैं वही बात प्रत्येक आध्यात्मिक या भौतिक वस्तु को समझने के विषय में कही जा सकती है। उनके मतानुसार "गीता का अर्थ समझने में बुद्धि का काम है। यह कठिन है। इससे तुम्हें रस नहीं मिलता, किन्तु जब बुद्धि के काम में रस मिलने लगेगा तब अर्थ समझने की इच्छा जागेगी। इसीलिए बुद्धि के विषयों में रस लेने लगो[२७]।"

पुनश्च बुद्धि का अनिवार्य सबन्ध वीर्य-लाभ से है। अतः इसके लिए ब्रह्मचर्य की नितांत आवश्यकता है।

गहरे तर्क करने की प्रेरणा देते हुए गान्धी ने आगे कहा—"मैं भविष्यवेत्ता नहीं हूँ और न मेरे दिव्यचक्षु हैं। जितना इन आँखों से देख सकूँ, कानों से सुन सकूँ, वही मेरे पास है।............मैं कहूँ इसलिए आप कोई बात न मानें। अपनी आँखों से देखें सो करें; मेरे कहने से नहीं। २४ महात्मा (गान्धी-जैसे या उनसे भी महान्) कहें तो भी नहीं। तजरबे से गलती करके आप सीखेंगे[२८]।" वे प्रायः कहा करते थे कि इन्सान का स्वभाव गलती करना है, पर, यह भी उसका स्वभाव है कि वह गलती को दुरुस्त कर सकता है और करते हुए आगे बढ़ता है। गान्धी जी के मतानुसार बुद्धि को विकसित करने में भी इसी प्रयोगवाद का उपयोग होता है। बुद्धि-बल जितना ही अधिक होगा उतनी ही आत्म-भावना फलवती होगी तथा उतनी ही जल्दी बुद्धि का उसमें लय होगा।

बुद्धि का विकास विद्याभ्यास से होता है और उसका परिपाक आत्मदर्शन है। बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान विद्या है। "किसी को साहित्यज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसी को भौतिक शास्त्र की, किसी को कला की, पर विद्याभ्यास का उद्देश्य आत्मदर्शन होना चाहिए[२९]।" सा विद्या या विमुक्तये।

४ शास्त्र-प्रमाण

हमें जीवन भर शब्द-प्रमाण, आप्तवाक्य, शास्त्र-प्रमाण द्वारा नाना वस्तुओं, और पदार्थों का ज्ञान होता है। इस शास्त्र प्रमाण को समझाते हुए गान्धी ने कहा—

(१) "गीता के मुख्य सिद्धान्त से असंगत कोई बात चाहे जहाँ भी लिखी हुई हो, मेरा मन उसे शास्त्र नहीं मानता। मेरे रूढ़िग्रस्त मित्रों को आघात न लगे तो मैं अपना अर्थ और अधिक स्पष्ट करना चाहता हूँ। सदाचार के विश्वमान्य मूल तत्त्वों से असंगत किसी भी चीज को मैं शास्त्र-प्रामाण्य में नहीं मानता। शास्त्रों का उद्देश्य इन मूल तत्त्वों को उखाड़ फेंकना नहीं, वरन् इन्हें टिकाए रखना है। और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है, इसका कारण यह है कि वह इन मूल तत्त्वों का समर्थन करती है। इतना ही नहीं, बल्कि वह किसी भी मूल्य पर इनसे चिपके रहने के लिए अचूक कारण बताती है[४०]।"

(२) "गीता का अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता अर्थात् हमारा आधार-रूप ग्रन्थ। हममें से बहुतों का आधार गीता है। इसलिए मैंने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल (अमतुस्सलाम) प्रार्थना या कुरैशी गीता के बदले कुरान शरीफ—पूरा या उसका कोई भाग[४१]", या किसी भी धर्म का किसी भी भाषा में कोई भी ऐसा ही आधार-रूप ग्रन्थ गीता है।

(३) शास्त्र का "अर्थ किसी जीवित प्रमाणभूत व्यक्ति में मूर्तिमान् होने वाला सदाचार है[४२]।"

अतः जो सदाचार के विश्वमान्य मूल तत्त्वों को बतलाने वाला हो वही शास्त्र है। सदाचार के ग्रन्थ शास्त्र हैं। सदाचारी व्यक्ति शास्त्र हैं। चूँकि गीता सदाचार का ग्रन्थ है, अतः वह शास्त्र है। शास्त्र मार्गदर्शक होता है। जो हित (शुभ) का शंसन (कथन) करे और रक्षा करे वह शास्त्र है।

सामान्यतः हिन्दू शास्त्रों से वेद, उपनिषद्, स्मृतियाँ, इतिहास (रामायण और महाभारत) तथा पुराणों का बोध होता है। गान्धी इनको अपनी परिभाषा के अनुसार शास्त्र-प्रमाण मानते हैं। इनके अतिरिक्त वे तुलसीकृत रामायण तथा बौद्ध और जैन दर्शन के ग्रन्थों को भी शास्त्र मानते हैं, हिन्दू शास्त्र मानते हैं। हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओं के संत

साहित्य को भी वे शास्त्र-प्रमाण मानते हैं। यही नहीं; मुस्लिम, ईसाई, यहूदी, पारसी धर्म के ग्रन्थो को भी वे शास्त्र-प्रमाण या श्रुति-प्रमाण मानते है। "वेद ही ईश्वर-प्रणीत हैं, इसका क्या अर्थ? वेद यदि ईश्वर प्रणीत है तो फिर कुरान और बाइबिल क्यो नही[४३]?" वे संसार के समस्त नैतिक-धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य को शास्त्र मानते हैं। वे उनको ईश्वर प्रणीत नही मानते। उनका कहना है कि शास्त्रो को ऋषियों-मुनियो ने खोजा है। उनमे सनातन सत्य के अतिरिक्त खोजने वाले व्यक्तियो की अपूर्णता के कारण कतिपय दोष भी है, मिथ्या बातें भी है। इस प्रकार शास्त्र या श्रुति-प्रमाण का अर्थ गुणार्थ (Connotation) और व्याप्त्यर्थ (Denotation) दोनो अर्थों में जितना विशाल गान्धी के लिए है उतना आजतक भारतीय दर्शन-धर्म के इतिहास मे किसी के लिए भी नही था। फिर यदि इन प्रमाणभूत ग्रन्थो में भी कुछ अंश ऐसे है और वे निःसन्देह हैं, जो सदाचार के विश्वमान्य नियमो से असगत हैं, तो उन-उन अंशो को गान्धी प्रमाण न मानकर किसी अल्पज्ञ द्वारा क्षेपक मानते है। यह है श्रुति-प्रमाण का युक्तियुक्त अर्थ जो आजतक भारतीय दर्शन के इतिहास में इस रूप मे कभी नही माना गया।

जैसे जैसे इतिहास बढ रहा है "वैसे-वैसे शास्त्रों की भी सदा वृद्धि होती जाती है[४४]।" नए-नए ग्रन्थों का प्रवेश होता जा रहा है। प्रत्येक शास्त्रीय ग्रन्थ या व्यक्ति बुनियादी तत्त्वो का उपयोग अपने समय की आवश्यकताओ तथा माँगों को पूरा करने के लिए निरन्तर सप्रयास करता है। इस तथ्य को जो नहीं समझते वे सनातन हिन्दू धर्म-दर्शन को तथा हिन्दू धर्म-दर्शन की नित्य नवीन कृतियों को नही जान पाते है और कहते हैं कि हिन्दू दार्श-निक अभी वेदप्रमाण के आगे नही बढ़े हैं। यदि वेदकालीन श्रुतिप्रमाण से लेकर अद्यतन गान्धी-गृहीत श्रुतिप्रमाण के अर्थविकास के इतिहास पर हम ध्यान दें तो हमें स्पष्ट समझ में आ जाता है कि प्रत्येक युग के महान् दार्शनिको ने श्रुतिप्रमाण के अर्थ में विकास किया है। याज्ञवल्क्य, कुमा-रिल, शकर, विज्ञानभिक्षु, मधुसूदन सरस्वती, तुलसीदास, गान्धी, प्रभृति इसका ज्वलत साक्ष्य देते है। वर्तमान भारत में श्रुतिप्रमाण का वह अर्थ नही है जो वेदों की ऋचाओं के समय था। श्रुतिप्रमाण कोई रूढ़िगत साक्ष्य नही है। यदि हम इसको न मानें, सिर्फ तर्क और अनुभव को ही मानें, तो कोई क्षति नहीं है। वर्तमान भारतीय दार्शनिकों ने इसलिए श्रुतिप्रमाण

से स्वतन्त्र या निरपेक्ष प्रमाणों द्वारा अपने-अपने दर्शनों की प्रतिष्ठा की है। गान्धी भी उन्हीं में से एक हैं। पाश्चात्य विद्वानों को अभी इस सरल सत्य को समझना है।

प्रचलित हिन्दू शास्त्रों का अर्थ भी गान्धी ने अपने ढंग से यों किया—

(१) "महाभारत ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है, पर हमारे मत से महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, बल्कि धर्म-ग्रन्थ हैं। या उसे इतिहास ही कहना चाहें तो वह आत्मा का इतिहास है और वह हजारों वर्ष पहले क्या हुआ यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देह में क्या-क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है। महाभारत और रामायण दोनों में देव और असुर के, राम और रावण के (अच्छाई और बुराई के) बीच नित्य चलने वाली लड़ाई का वर्णन है[४५]।"

(२) गीता महाभारत का अंग है। "इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरंतर होते रहने वाले द्वन्द्व-युद्ध का वर्णन है, मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है[४६]।" "गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध संपूर्ण ज्ञान हैं; परन्तु काल्पनिक हैं"[४७]।

गान्धी के इन विचारों से कुछ लोग कह सकते हैं कि उन्होंने शास्त्रों का अनर्थ किया है। पर वे इस बात को भूल नहीं सकते कि गान्धी ने इन शास्त्रों का गम्भीरतम आध्यात्मिक तथा नैतिक अर्थ किया है। यदि ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से देखे तो गान्धी का महाभारत-रामायण को ऐतिहासिक ग्रन्थ न मानना उतना ही एकांगी और भ्रमपूर्ण है जितना अन्य लोगों का यह मानना कि इन ग्रन्थों का प्रत्येक शब्द या प्रत्येक घटना ऐतिहासिक है। जब गान्धी अधिक सावधान रहे हैं तब उन्होंने स्वीकार किया है कि इन ग्रन्थों में इतिहास, आत्मिक साधना तथा काव्य का इतना मिश्रण हो गया है कि मानव बुद्धि आज इन पर विचार करके चकित रहती है। वस्तुतः ये इतिहास, अध्यात्म-शास्त्र तथा काव्य सभी के ग्रन्थ हैं। यह परम्परागत सत्य अधिक युक्तियुक्त है[४८]। गान्धी महाभारत के बारे में कही गयी उक्ति 'जो इसमें है वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है—यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' को मानते थे और कहते थे कि महाभारत ही नहीं वरन् हिन्दू धर्म अर्थात् सभी हिन्दू शास्त्र भी इसी प्रकार के हैं[४९]।

क्योंकि उनके अनुसार उन सब में सदाचार के बुनियादी तत्वों का सम्यक् निरूपण है।

शास्त्र-प्रमाण की इस प्रकार नवीन तथा वर्तमान भारत या युग के अनुरूप व्याख्या करते हुए भी गान्धी ने शास्त्रों के अर्थ करने की प्राचीन नियमावली को स्वीकार किया है। उन्हीं के शब्दों में ये नियम दो हैं—

(१) "शास्त्र का अर्थ करने में संस्कार और अनुभव की आवश्यकता है। शूद्र को वेद का अभ्यास नहीं होता, न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति[४०], यह वाक्य सर्वथा गलत नहीं है। शूद्र अर्थात् असंस्कारी मूर्ख, अज्ञानी। वह वेदादि का अभ्यास करके उनका अनर्थ करेगा।............व्यभिचारी के मुख से 'अहं ब्रह्मास्मि' क्या शोभा देगा? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा?

"अर्थात् शास्त्र का अर्थ करने वाला यमादि का पालन करने वाला होना चाहिए। यमादि का शुष्क पालन जैसे कठिन है, वैसा ही निरर्थक भी है। शास्त्रों ने गुरुओं का होना आवश्यक माना है; लेकिन इस जमाने में गुरुओं का तो करीब-करीब लोप-सा हो गया है। ज्ञानी लोग इसीलिए भक्ति-प्रधान प्राकृत ग्रन्थों का पठन-पाठन करने की शिक्षा देते हैं; किन्तु जिनमें भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वे शास्त्र का अर्थ करने के अधिकारी नहीं होते। विद्वान् लोग विद्वत्तापूर्ण अर्थ उसमें से भले ही निकालें, लेकिन वह शास्त्रार्थ नहीं। शास्त्रार्थ तो अनुभवी ही कर सकता है[४१]।

(२) "शास्त्र का अर्थ करने में दूसरा नियम यह है कि उसके प्रत्येक अक्षर को न पकड़कर उनकी ध्वनि खोजनी चाहिए, उसका रहस्य समझना चाहिए। तुलसीदास जी की रामायण उत्तम ग्रन्थ है, क्योंकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसने 'शूद्र गंवार ढोल पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' लिखा, इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचन्द्र जी ने सीता जी पर कभी प्रहार नहीं किया। इतना ही नहीं, उन्हें कभी दुःख भी नहीं पहुंचाया। तुलसीदास ने केवल प्रचलित वाक्य को लिख दिया। उन्हें इस बात का ख्याल भी न हुआ होगा कि इस वाक्य का आधार लेकर अपनी अर्धांगना का ताड़न करने वाले पशु भी कहीं निकल पड़ेंगे[४२]।"

यदि शास्त्रों के अर्थ करने में इन दो नियमों का पूर्ण पालन किया जाय

तो निःसन्देह शास्त्र-प्रमाण सभी के लिए आध्यात्मिक विश्वकोश सिद्ध होगा। गान्धी प्रायः इसको जीवन-संहिता कहते थे, अपना आध्यात्मिक कोष कहते थे। श्रुति-प्रमाण के निन्दकों को गान्धी के [illegible] सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए और तदनुकूल श्रुतियों या शास्त्रों का अर्थ लगाकर लाभ उठाना चाहिए।

गान्धी सदाचारी तत्त्वज्ञों को भी शास्त्रों की ही दृष्टि से देखते थे। उन्होंने कहा "तीन पुरुषों ने मेरे जीवन पर बहुत ही बड़ा प्रभाव डाला है। उनमें पहला स्थान मैं रायचन्द्र कवि को देता हूं, दूसरा टालस्टाय को और तीसरा रस्किन को[५३]।" "टालस्टाय ने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' से जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है और रायचंदभाई ने अपने गाढ़े परिचय से[५४]।" और "रायचंद भाई ने अपने सजीव संसर्ग से, टालस्टाय ने 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है' (The Kingdom of God is Within You) नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने अनटु दिस लास्ट (Unto This Last)—सर्वोदय नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया[५५]।"

रायचन्द्रभाई के बारे में उन्होंने लिखा कि 'वे दया-धर्म की मूर्ति' थे; 'वह चरित्रवान् और ज्ञानी थे। वह शतावधानी माने जाते थे'; 'खुद हजारों का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की गुत्थियाँ सुलझाते, पर ये बातें उनका विषय न थी। उनका विषय, उनका पुरुषार्थ तो आत्म-साक्षात्कार—हरिदर्शन था'; 'उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अन्तस्तल तक पहुंच जाती'; 'जब मुझे हिन्दू धर्म में शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करने में मदद करने वाले रा[illegible]चंदभाई थे', 'उनके पास हमेशा कोई-न-कोई धर्म[illegible] और एक [illegible] [illegible] ही रहती थी। इस कापी में वे अपने मन [illegible] जो [illegible] आते उन्हें लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्य और कभी पद्य [illegible], [illegible] संस्कारी ज्ञानी थे'; 'मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊं और वे शब्द चाहे किसी भी भाषा के हों, जिस क्रम से मैं बोलूंगा उसी क्रम से वे दुहरा जायेंगे, 'कवि की स्मरण-शक्ति के विषय में मेरा उच्च विचार हुआ', 'उनका पक्षपात जैन धर्म की ओर था। उनकी मान्यता थी कि [illegible] [illegible] रायचंदभाई [illegible] दूसरे

धर्मों के प्रति अनादर न था, बल्कि वेदान्त के प्रति पक्षपात भी था। वेदान्ती को तो कवि वेदान्ती ही मालूम पड़ते थे'; 'मुझे कौन-सी पुस्तकें बाँचनी चाहिए, यह प्रश्न उठने पर, उन्होंने मेरी वृत्ति और मेरे बचपन के संस्कार देखकर मुझे गीता जी बाँचने के लिए उत्तेजित किया', 'मैं कितने ही वर्षों से भारत में धार्मिक पुरुषों की शोध मे हूं परन्तु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारत मे अब तक नहीं देखा, जो श्रीमद् राजचंद्र भाई के साथ प्रति-स्पर्धा कर सके। उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी, ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे ; उनमे एक ऐसी महान् शक्ति थी, जिसके द्वारा वे प्राप्त हुए प्रसग का पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अंग्रेज तत्त्वज्ञानियो की अपेक्षा भी विचक्षण, भावनामय और आत्मदर्शी हैं। यूरोप के तत्त्वज्ञानियों मे मैं टालस्टाय को पहली श्रेणी का और रस्किन को दूसरी श्रेणी का विद्वान् समझता हूँ, परन्तु श्रीमद् राजचन्द्र भाई का अनुभव इन दोनो से भी बढ़ा-चढ़ा था;' 'वे प्रायः कहा करते थे कि मैं किसी बाड़े का नहीं हू। और न किसी बाड़े में रहना ही चाहता हू। यह सब तो उपधर्म—मर्यादित—हैं और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या हो ही नही सकती', और ''उनके लेखों का संग्रह गुजराती में प्रकाशित हुआ है[५६]।''

निसन्देह रायचन्द्रभाई सच्चे आप्त पुरुष थे। उनके वचन क्यों न प्रमाण माने जाये ? यही बात अन्य आप्त पुरुषों के बारे में भी कही जा सकती है। यदि शास्त्रों का सच्चा अर्थ किया जाय, तो शास्त्र-प्रमाण से ज्ञान-वृद्धि होती है, यह निर्विवाद है। पर इतना जानना ही पर्याप्त नही है। हम यह भी जानना चाहिए कि 'अमुक हद के बाद शास्त्र मदद नही करते, परन्तु अनुभव मदद करता है[५७]'। ''हम केवल बुजुर्गों की ही प्राप्त की हुई पूंजी पर नहीं निभ सकते। उसमें यदि वृद्धि न की जाय तो हम उसे खा जाते हैं[५८]।'' अतः हमे बुद्धि तथा अन्तरात्मा द्वारा नूतन शास्त्रों का बनाने का कार्य सदा करते रहना चाहिए। इस दृष्टि से प्रत्येक दार्शनिक एक ओर अतीत के ज्ञान का सरक्षक है और दूसरी ओर अनागत के ज्ञान का द्रष्टा या कर्ता है।

५ ज्ञान की कसौटी और उसका प्रयोग

गान्धी सत्य की कसौटी बतलाते हुए निम्नलिखित बातें कहते हैं—

(१) ''विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है।

इस सत्य को सम्पूर्णतः समझने वाले के लिए जगत् मे और कुछ जानना बाकी नहीं रहता,........क्योंकि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाय वह सत्य नहीं है, ज्ञान नही है। तब फिर उससे सच्चा आनन्द तो हो ही कहाँ से सकता है? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना सीख जायँ तो हमें यह जानने मे देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है कौन त्याज्य? क्या देखने योग्य है क्या नही? क्या पढ़ने योग्य है क्या नहीं"[५९]?

(२) "अविरोध (Consistency) तो छोटे-से आदमी का पिशाच है। हमारे जीवन में कभी विरोध आने वाला ही नहीं, अगर हम यह दिखलाना चाहें तो हमें मरा ही समझें। ऐसा करने मे अगर कल के कार्य को याद रखकर उसके साथ आज के कार्य का मेल करना पड़े तो कृत्रिम मेल में असत्याचरण हो सकता है। सीधा मार्ग यह है कि जिस वक्त जो सत्य प्रतीत हो, उसका आचरण करना चाहिए। यदि हमारी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है तो हमारे कार्यों में दूसरों का विरोध दीखे भी तो उससे हमें क्या सम्बन्ध है? सच तो यह है कि हमारा विरोध नही है, हमारी उन्नति है[६०]"।

(३) "मैं तो हर पद पर जिन वस्तुओं को देखता हूं, उनके त्याज्य और ग्राह्य, दो हिस्से कर लेता हूं, और ग्राह्य के अनुसार अपना आचरण बनाता हूं और इस प्रकार बनाया हुआ आचरण मुझे अर्थात् मेरी बुद्धि और अन्तरात्मा को जब तक सन्तोष दे तब तक मुझे उनके शुभ परिणामों के विषय में अटूट विश्वास रखना ही चाहिए।........मेरे ख्याल से सत्य ही सर्वोपरि है और उसमें अनगनित वस्तुओं का समावेश हो जाता है। यह सत्य वह, स्थूलवाणी का, सत्य नहीं है। यह तो जैसे वाणी का है, वैसे विचार का भी है। यह सत्य हमारा कल्पित सत्य ही नहीं है; बल्कि स्वतन्त्र और चिर-स्थायी सत्य है, अर्थात् परमेश्वर ही है। वही एक सत्य है और अन्य सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं, पर मैं इसका शोधक हूं।........इस सत्य का साक्षात्कार न कर लेने तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उस काल्पनिक सत्य को अपना आधार मानकर, अपना दीपक समझकर, उसके आश्रय में अपना जीवन बिताना है।........इस मार्ग पर चलकर अपनी भयंकर भूलें भी मुझे तुच्छ-सी लगती हैं, क्योंकि ये भूलें करते हुए भी मैं बच गया हूं और अपनी समझ के अनुसार आगे भी बढ़ा हूं। दूर-दूर से विशुद्ध सत्य की—ईश्वर की—झांकी भी हो रही है। [illegible]

सिवा दूसरा कुछ भी इस जगत् मे नही है, ऐसा मेरा विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।........अल्पात्मा को नापने के लिए सत्य के गज को कभी छोटा होने का अवसर न आए[६१]।"

(४) "यह प्रगति का पुराना तरीका है, आगे बढ़ना, गलतियाँ करना और उन्हें सुधारते जाना[६२]।"

(५) "जो अपने को आदर्श तक पहुंचा हुआ समझता है, उसे नष्टप्राय ही समझना चाहिए। बस यहीं से उसकी अधोगति शुरू होती है। ज्यों-ज्यों हम आदर्श के समीप पहुंचते हैं, आदर्श दूर भागता जाता है। जैसे-जैसे हम उसकी खोज में अग्रसर होते हैं, यह मालूम होता है कि अभी तो एक मंजिल और बाकी है। कोई भी जल्दी से मंजिल तय नही कर सकता, ऐसा मानने में हीनता नही है, निराशा नही है, किन्तु नम्रता अवश्य है। इसी से हमारे ऋषियो ने कहा है कि मोक्ष तो शून्यता है। मोक्ष चाहने वाले को शून्यता प्राप्त करना है[६३]।"

इन अनुच्छेदों पर मनन करने से ज्ञात होता है कि सच्चे ज्ञान की कसौटी (१) अन्तरात्मा है (अनुच्छेद २ ऊपर), (२) एकवचनीत्व, कथनी-करनी की एकता अथवा मन, वाणी और कर्म की एकता है (अनुच्छेद १ ऊपर) जिसे हम अविरोध (Consistency) कह सकते हैं, (३) समयानुकूल सच्चा प्रतीत होने वाले ज्ञान की आचरण-प्रवणता है (अनुच्छेद २ ऊपर) जो अनिवार्यतः विरोधपूर्ण होता रह सकता है, (४) अनन्त सत् या परमात्मा है जिसकी सत्ता बोध है और जिसका बोध सत् है (अनुच्छेद ३) और (५) सदा दूरगामी शून्यता है (अनुच्छेद ५) जिसका अर्थ हम माध्यमिको की शून्यता ले कर सकते है।

इन पर विचार करने से आपाततः ज्ञात होता है कि सच्चे ज्ञान की कई कसौटियां है। पर यदि हम इन पर गम्भीर विचार करें तो ज्ञात होगा कि वस्तुतः कसौटी एक ही है, अनेक नही और वह है सत्याग्रह या सत्यता का आग्रह या अभिनिवेश।

इसे हम यों समझ सकते है—अद्वैतवेदांत में सच्चे ज्ञान की कसौटी है अव्यभिचारिता या नित्य एकरूपता। माध्यमिक बौद्ध दर्शन मे सच्चे ज्ञान की कसौटी है शून्यता। आज यह बात सर्वविदित है कि दोनों की प्रणाली में यद्यपि भेद है, तथापि दोनों की कसौटी एक ही है। और वह है परम

तत्त्व या नित्य सर्वान्तर अद्वैत वस्तु की अनुभूति । गान्धी इस कसौट संभाव्य आदर्श मानते हैं, यथार्थ नहीं । वे शंकर की भाँति बुद्धिमार्ग ज्ञानयोगी (Dialectician) नहीं है जो अपने को कहते हैं कि मैंने व परम तत्त्व को प्राप्त कर लिया है । वे नागार्जुन की भाँति रहस्यवादी ध्यानयोगी (Mystic) भी नहीं है जो कहते हैं कि मैंने प्रज्ञा (अन्तरात्म Intuition) से परम तत्त्व को प्राप्त कर लिया है । वे इन दोनों के अ को सम्भव अपने ही लिए नहीं वरन् सब के लिए मानते हैं । पर जब यह प्राप्त न हो जाय इसे हम अपने ज्ञान की कसौटी कैसे बना सकते अतः उन्होंने इसकी ओर निरन्तर बढ़ते रहने को ही ज्ञान, कर्म, जीवन, की कसौटी माना । यदि हम आदर्श को सत्य कहें तो हम इस सिद्धान्त सत्याग्रह कह सकते हैं । बुद्धिपूर्वक सत्य की ओर बढ़ने की यह प्रवत्ति अभिनिवेश है, हठ, या आग्रह है ।

इसी को हम परम तत्त्व की ओर से देखने के बजाय यदि साधा मनुष्य की दृष्टि से देखें तो यों देख सकते हैं—सभी मनुष्य को अपनी अ रात्मा के अस्तित्व का कुछ बोध होता है । संस्कार या आत्मसंयम से अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । जैसे-जैसे आत्मसंयम बढ़ेगा, वैसे यह ज्ञान भी अधिक स्पष्ट होगा । अन्तरात्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान का आधार बतला चुके हैं । वह बौद्धिक ज्ञान में अन्तर्व्या रहता है । वही बौद्धिक ज्ञान की सत्यता की कसौटी है । यदि बौद्धिक ज्ञ उसके अनुकूल है तो वह सच्चा है, अन्यथा नहीं । पर चूँकि आत्मसंयम वृद्धि से, बुद्धि के बढ़ते हुए उसके समर्थन से, इस आत्म-प्रतीति का अर्थ बढ़ता रहता है, अतः क्या यह माना जाय कि अन्तरात्मा जो बौद्धिक ज्ञ की कसौटी है, परिवर्तनशील है । गान्धी वस्तुतः इस प्रकार की आत्म-प्रती को सदा परिवर्धमान मानते हैं । जब वे कहते हैं कि अविरोध पिशाच गुण है तो उनका आशय यह है कि आत्म-प्रतीति की मात्रा स्थिर नहीं है यदि [illegible] किसी पुरुष की आत्म-प्रतीति को किन्हीं परिस्थितियों में किर [illegible] उसी पुरुष की आत्म-प्रतीति को [illegible] परिस्थिति [illegible] दूसरे समय में [illegible] उठना है [illegible] भिन्न या विरुद्ध [illegible] अथवा [illegible] और 'ह' में कु [illegible] का अविरोध [illegible] है । यदि हम ऊपर के पाँचों [illegible] को सूक्ष्म [illegible] में समझें तो ज्ञात होगा कि गान्धी का कथन [illegible] कि "ह" को

प्रगति "ह" में हो रही है। "ह" 'क' का विकास है। इसका मतलब यह नहीं कि "ह" "क" से बिलकुल भिन्न या विरुद्ध है। विरोध होने पर तो प्रगति ही न होती, तब तो एक का नाश था और दूसरे की उत्पत्ति थी; पर ऐसा न होकर "क" की प्रगति "ह" में मानी गयी है। फिर हो सकता है कि "ह" प्रगति न होकर अधोगति हो। यदि "ह" प्रगति है तो भी और अधोगति है तो भी, उसकी तुलना हम "क" से करते हैं, "क" के गुणों को अधिक या कम पाने पर हम "ह" को "क" की प्रगति या अधोगति क्रमशः कहते हैं। प्रगति होने पर हम "क" के अच्छे रूप "ह" को पा जाते हैं, अतः हमारी कसौटी या मानदण्ड तब से "ह" होने लगता है। अधोगति होने पर हम "क को ही मानदण्ड माने रहते हैं और अपनी गलतियों या भूलों को सुधारते हैं, उन्हें फिर न करने का व्रत करते हैं, नतीजा यह होता है कि हम फिर "क" को "ह" में नहीं बदलने देते हैं। जितनी बार हमें आत्मप्रतीति का उत्थान या पतन अनुभूत होता है, उतनी ही बार हम ऐसी ही क्रियाओं की आवृति करते हैं। फलस्वरूप हम आत्म-प्रतीति को अधिकाधिक अनुभव करते जाते हैं। यही सत्याग्रह है, अर्थात् सत्य का अधिकाधिक अनुभव करना है। इस आत्म-प्रतीति की प्रगति पूर्ण सत्य या परम तत्त्व तक हो सकती है। पर कभी भी आत्म-प्रतीति उस परम तत्त्व में हम मनुष्यों के जीवन-काल में समा नहीं सकती। अतः हम सिर्फ सत्याग्रह तक ही रह जाते हैं। आरंभिक या आदिम आत्मप्रतीति तथा चरम अद्वैतानुभूति या आत्मज्ञान दोनों की मध्यमा प्रतिपत् यह सत्याग्रह है, पहली से अधिक और दूसरी से अल्प। बौद्धिक ज्ञान का यह आधार अवश्य है, पर यह बौद्धिक ज्ञान से प्राप्त नहीं हो सकता है। केवल बौद्धिक ज्ञान की शून्यता या नितांत आलोचना इसके लिए अभीष्ट है। हाँ, अन्तरात्मा से युक्त बौद्धिक ज्ञान इस ओर लाभकारी हो सकता है। जिन वृत्तियों में हमें अन्तरात्मा की प्रतीति होती है उन्हें हम सत्य मानेंगे, शेष को असत्य। जिन वस्तुओं या व्यक्तियों में हमें अपनी अन्तरात्मा की प्रतीति होती है, उन्हें हम सत्य मानेंगे, शेष को असत्य। इस ओर हम जितने बड़े पैमाने पर प्रयोग करेंगे उतना ही हम देखेंगे कि हमारी अन्तरात्मा सर्वान्तर है। अतः हमें सब को प्रेम करना है, यदि हमें इसे जानना है तो। सब की सेवा करनी है ठीक वैसे ही जैसे हम अपनी सेवा करते हैं।

इस प्रकार समझने पर सत्याग्रह नित्य बढ़ते रहने पर भी नित्य एकरूप

बना रहता है। यह एकरूपता दो प्रकार से समझी जा सकती है। पहले, सत्याग्रह सर्वजन-सुलभ आरंभिक आत्मप्रतीति के अनुरूप होता है। दूसरे, यह कल्पित पूर्ण तत्त्वानुभूति या अद्वैतानुभूति की ओर उन्मुख रहता है। यदि सत्याग्रह में ये दो बातें नहीं हैं तो फिर वह सत्याग्रह न होकर असत्याग्रह या मिथ्याग्रह है।

गान्धी कोरे तर्कविदों की तरह सत्य को केवल वाणी, वचन,या वाक्य का ही गुण नहीं मानते थे। सत्य वाणी या वाक्य का गुण तो है ही। किन्तु वह वाणी के उत्स हृदय का भी गुण है। वह भावनाओं या उद्वेगों का भी वैसा ही गुण है जैसा कि वह प्रत्ययों या वृत्तियों का गुण है। पुनश्च वह कर्म का भी गुण है। यही नहीं, वह वाणी की एकरूपता, हृदय की एकरूपता या कर्म की एकरूपता ही नहीं है, वरन् इन तीनों की पारस्परिक एकरूपता भी है। सत्य वही हो सकता है जो आचरणीय हो। अनाचरणीय कथमपि सत्य नहीं हो सकता।

सत्याग्रह जैसे ज्ञान की एकरूपता में सत्याभिनिवेश हो जाता है, वैसे वह वाणी, मन या हृदय और कर्म की एकरूपता में सत्याचरण हो जाता है। उसका हृदयगत, बुद्धिगत और कर्मगत अर्थ है। हृदयगत अर्थ दया की प्रवणता है, बुद्धिगत अर्थ सत्य का अभिनिवेश है और कर्मगत अर्थ अहिंसा है। कभी-कभी अहिंसा शब्द का उपयोग तीनों अर्थों के लिए किया जाता हैं और तब वह सत्याग्रह का पर्याय बन जाता है।

आचरणानुकूलता को सत्यता की कसौटी मान लेने पर लगता है कि गान्धी उपयोगवादी (Pragmatist) थे। वे अभ्यासी थे। अतः यह सत्य है। अभ्यास के अनुसार वे अपने सिद्धान्त में भी फेरफार कर लेते थे। पर यह कसौटी का एक पहलू है। दूसरा पहलू दया का उद्रेक है। इससे लगता है कि गान्धी भक्त थे अथवा परम कारुणिक बोधिसत्व थे। पर यह भी पर्याप्त नहीं है। उनकी कसौटी केवल आचरणाग्रह और दयाग्रह ही नहीं वरन् सत्याग्रह अर्थात् सच्चे ज्ञान का आग्रह है। यहाँ वे विज्ञानवादी (Idealist) प्रतीत होते हैं। इन तीनों का मेल एकत्र बैठ जाने से सत्याग्रह विश्व-दर्शन में वर्तमान भारत की एक महान् देन हो गया है।

वास्तव में सत्याग्रह सिद्धान्त को खोज लेने से बौद्ध दर्शन की परिवर्तन-शील शून्यता और वेदांत की कूटस्थ आत्मा का मध्यम मार्ग मिल जाता है।

दोनों का इसमें उपयोग हो जाता है, क्योंकि सत्याग्रह स्थिर होते हुए भी परिवर्तनशील है, आत्मानुभूति होते हुए भी शून्यता है।

नम्रता में सत्याग्रह की पूर्ण छाप पाई जाती है। पूर्ण सत्याग्रह पूर्ण नम्रता की प्राप्ति से ही सभव हो सकता है। नम्रता से आत्मज्ञान में लाभ होता है, दया मे वृद्धि होती है और कर्म के बधन से मुक्ति मिलती है। नम्र पुरुष दूसरों से सीख सकता है। वह अपने को जान सकता है, दूसरो पर दया बरसा सकता है, दूसरों से दया ले सकता है। वह कोई काम सगर्व नही करता। सच्ची नम्रता शून्यवत् हो जाना है। जब बौद्धों ने शून्यतॉवाह, मैं शून्यता हूँ का अनुभव किया तब उनके अनुभव का यथार्थ तात्पर्य इसी नम्रता की परम अनुभूति है।

कोई यह न समझे कि नम्रता केवल सवेगों या इच्छाओ का ही गुण है। नम्रता बौद्धिक भी होती है। सच्ची विद्या या बुद्धि सदैव नम्र होगी, विनीत होगी, अर्थात् वह केवल अपने लिए ही सपूर्णता का दावा न करेगी, औरों के भी दृष्टि-बिन्दुओ को मानेगी और अपने दृष्टि-बिन्दु को वैसा मानते हुए भी सच्चा समझेगी। शायद विद्या ददाति विनयम्, विद्या 'विनय देती है— इस वाक्य का यही ज्ञानमार्गीय अर्थ है।

अद्वैत वेदान्त मे आत्मा या ब्रह्म को जानने का मार्ग है अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया। अध्यारोपापवादाभ्या निष्प्रपंचं प्रपच्यते[२४], अध्यारोप और तदनन्तर उसके अपवाद द्वारा प्रपचशून्य सत् का वर्णन किया जाता है। यह ज्ञानमार्ग का प्रतिषेधक वर्णन है। यह नेति-नेति का मार्ग है। इसके पीछे 'इति-इति' का भी मार्ग छिपा है। बिना इति-इति के कोई व्यक्ति किस आधार पर 'नेति-नेति' कह सकता है? गान्धी का ध्यान इसी 'इति-इति' की प्रक्रिया पर था। इसी को वे सत्याग्रह कहते हैं अर्थात् सत्य का शाश्वत आग्रह जो 'नेति-नेति' के मार्ग मे आद्योपान्त व्याप्त रहता है। इस दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि सत्याग्रह ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में एक स्वस्थ सिद्धान्त है। अद्वैत वेदान्त में 'इति-इति' प्रक्रिया 'नेति-नेति' प्रक्रिया के साथ चलती तो है, पर पहले के किसी दार्शनिक ने इसका सुन्दर निरूपण नही किया। गान्धी ने इसको सत्याग्रह का नाम दिया। उन्होंने इस प्रक्रिया को पहिचाना। उनकी दृष्टि निषेध पर कम जाती थी, विधि पर

अधिक। अतः वे अध्यारोप-पवाद-प्रणाली को विधायक रूप देना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने इसके विधायक पक्ष पर जोर देकर इसको सत्याग्रह कहा।

शायद यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि अद्वैत वेदान्त के इतिहास में गान्धी की यह महान देन है। उनका स्पष्ट, स्वस्थ और समीचीन पारिभाषिक शब्द देना ज्ञानमार्ग के स्वरूप का उनका वास्तविक ग्रहण बताता है। यह उनकी समन्वयात्मक बुद्धि का परिचायक है।

वर्तमान समय में पश्चिमी देशों में प्रचलित प्रयोगवाद (Experimentalism) की ज्ञानमीमांसा में और सत्याग्रह की प्रयोगवादी ज्ञानमीमांसा में अन्तर है। पाश्चात्य प्रयोगवाद में कोई मानदण्ड स्थिर नहीं है। उसका सदा परिवर्तन होता रहता है। सत्याग्रह की ज्ञानमीमांसा में परिवर्तित होने वाले ज्ञानरूपों या सिद्धान्तों में कम से कम सत्यता के प्रति प्रवृत्ति सदैव नित्य और अचल रहती है। दोनों ज्ञानमीमांसाएं सापेक्ष्यवादी हैं। पर सत्याग्रह की ज्ञानमीमांसा में जो सत्याभिनिवेश सभी प्रयोगों में झलकता है, उसको पूर्णरूप से प्राप्त करने का लक्ष्य निरपेक्ष है, यद्यपि वह जीवनकाल में दुर्लभ है। हो सकता है शरीर छूटते ही वह लभ्य हो जाय[६४]।

टिप्पणियाँ एवं सन्दर्भ

१ पन्द्रह अगस्त के बाद, महात्मा गान्धी, पृ० १३३।
२ प्रार्थनाप्रवचन, भाग १ और २, महात्मा गान्धी, सर्वत्र।
३ गीता माता, महात्मा गान्धी, पृ० २५२।
४ पन्द्रह अगस्त के बाद, पृ० १३४।
५ हिन्दू धर्म (अंग्रेजी में), महात्मा गान्धी, पृ० २८।
६ प्रार्थनाप्रवचन, भाग १ पृ० ३५१।
७ [illegible], महात्मा गान्धी, पृ० [illegible]।
८ [illegible], महात्मा गान्धी, पृ० [illegible]।
९ [illegible]।
१० [illegible], सुशीला नय्यर, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृ० ३३३।
११ प्रार्थनाप्रवचन, भाग १, पृ० [illegible]।
१२ [illegible], महात्मा गान्धी, पृ० [illegible]।

१३ आत्मकथा, महात्मा गान्धी, प्रस्तावना, पृ० ५।

१४ हिन्दू धर्म, महात्मा गान्धी, पृ० १०७-१०८।

१५ महात्मा गान्धी, (अंग्रेजी में), सं० स० राधाकृष्णन्, पृ० १५।

१६ दी कन्सेपशन आफ् स्प्रिच्युअल लाइफ इन महात्मा गान्धी एण्ड हिन्दी सेण्ट्स, रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे, पृ० ३३।

१७ वही पृ० १५।

१८ वही पृ० ७३।

१९ वही पृ० ७३।

२० वही पृ० ७९।

२१ योगतारावली, शंकराचार्य।

२२ रानडे का उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० ७८।

२३ राधाकृष्णन् का उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० २९९।

२४ द्रष्टव्य—इसी पुस्तक का चौथा अध्याय।

२५ ब्रह्मचर्य भाग १, महात्मा गांन्धी, पृ० १३।

२६ वही पृ० १४०।

२७ वही पृ० १४०।

२८ ब्रह्मचर्य भाग २, महात्मा गान्धी पृ० ७५।

२९ गीता-माता, महात्मा गान्धी, पृ० ५४१।

३० वही १२८।

३१ भगवद्गीता २।६६।

३२ स्थितप्रज्ञदर्शन, विनोबा भावे, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृ० ९१।

३३ गीता-माता, महात्मा गान्धी पृ० ५६८।

३४ दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का इतिहास, महात्मा गान्धी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृ० १२१।

३५ वही पृ० १२१।

३६ आत्मकथा, महात्मा गान्धी, पृ० ३३७।

३७ गीता-माता, महात्मा गान्धी, पृ० ५७०।

३८ प्रार्थना-प्रवचन भाग २, महात्मा गान्धी, पृ० २८६।

३९. धर्मनीति, महात्मा गान्धी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृ० २३६।

४० गीता-माता महात्मा गान्धी पृ० ५६९ ।
४१ वही पृ० ५४९ ।
४२ वही पृ० ५६९ ।
४३ मेरे समकालीन, महात्मा गान्धी, पृ० ४९८ ।
४४ हिन्दू धर्म, महात्मा गान्धी, पृ० २० ।
४५ गीता-माता, महात्मा गान्धी, पृ० ४ ।
४६ वही पृ० १०५ ।
४७ वही पृ० १०६ ।
४८ रामनाम, महात्मा गान्धी, पृ० १५० ।
४९ हिन्दू धर्म, महात्मा गान्धी, पृ० ४ ।
५० शारीरक भाष्य, शंकराचार्य, १।३।३४ ।
५१ गीता-माता पृ० ५४३ ।
५२ वही पृ० ५४४-५४५ ।
५३ मेरे समकालीन, पृ० २२५ ।
५४ वही पृ० ५०० ।
५५ वही पृ० ४९८ । और भी आत्मकथा पृ० ११२ ।
५६ मेरे समकालीन पृ० ४९२-५११ ।
५७ वही पृ० ५११ ।
५८ वही पृ० २२६ ।
५९ धर्मनीति, पृ० ११९ ।
६० मेरे समकालीन पृ० २२८-२२९ ।
६१ आत्मकथा, प्रस्तावना पृ० ५-७ ।
६२ प्रार्थना-प्रवचन भाग २, पृ० १८३ ।
६३ मेरे समकालीन, पृ० २२८ ।
६४ सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, शंकराचार्य, ३९५ ।
६५ देखिए इसी पुस्तक का दसवाँ अध्याय ।

अध्याय ४

नव्य कर्ममार्ग

१ कर्म-दर्शन

बुनियादी ज्ञानमीमांसा के वर्णन में हमने देखा कि अन्तरात्मा, बुद्धि तथा शास्त्र के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आत्मसंयम की आवश्यकता है। इस कारण आत्मसंयम ज्ञानोदय का अवश्यंभावी पूर्ववर्ती है। आत्म-संयम का अर्थ अपने ऊपर अपना स्वत्व या अधिकार कायम करना है, अपने को सुधारना-सँवारना है। इसका फल आत्मशुद्धि या सत्त्वशुद्धि है जिसके उपरान्त ही सच्चा ज्ञान मिलता है।

आत्मशुद्धि कर्म से ही संभव है। गान्धी गीता के निम्नलिखित श्लोक को अक्षरशः सत्य मानते थे—

> कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये[1]॥

अर्थात्

शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इन्द्रियों से भी योगीजन आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

कर्मफल-त्याग या अनासक्तियोग उनके अनुसार गीता का मध्यबिन्दु है। कर्म करने से ही परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। पर साथ ही कर्म बन्धनकारी भी हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में ऊपर से विरोध दीखता है। पर गान्धी ने गीता के अनुसार दोनों का विरोध दूर किया। कर्म का फल त्याग देने से कर्म बन्धनकारी नहीं होते। कर्म के फल से आसक्ति रखना ही कर्म को बन्धनकारी बनाता है। उसका परित्याग करने से कर्म पापरहित हो

जाता है। 'निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति[२]।' 'कर्ममात्र का त्याग गीता के संन्यास को भाता नहीं। गीता का संन्यासी अतिकर्मी है तथापि अति-अकर्मी है[३]' क्योंकि वह कर्मफल का त्याग करता है और यही सच्चा सन्यास है।

गीता ने यज्ञ, दान और तप को अत्यन्त आवश्यक कर्म बताया है। इनका त्याग कथमपि नही किया जा सकता है। गीता के यज्ञ का अर्वाचीन अर्थ करते हुए गान्धी ने कहा "यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ, किए हुए कर्म"[४]। फिर इसका विशद अर्थ करते हुए उन्होंने आगे बताया कि जैसे प्राचीन यज्ञों का साधन अग्नि थी, वैसे अद्यतन यज्ञों का साधन चर्खा होना चाहिए। प्राचीन यज्ञ देवताओ को प्रसन्न करने के लिए किए जाते थे, अद्यतन यज्ञ भी उन्हीं को खुश करने के लिए होने चाहिए। पर 'देवता का अर्थ है ईश्वर की अंशरूपी शक्ति। इस अर्थ मे मनुष्य भी देवता है। भाप, बिजली आदि महान् शक्तियाँ देवता है। उनकी आराधना का फल तुरन्त और इस लोक में मिलता हुआ हम देखते है[५]।" इस प्रकार उन्होंने चर्खा कातना, बुनकर का काम करना, आदि रचनात्मक कार्यों को यज्ञ बतलाया है। जैसे गीता के यज्ञ निष्काम-भाव से किये जाने पर आत्मशुद्धि और लोक-संग्रह दोनो को प्रदान करते है वैसे गान्धी के यज्ञ भी निष्काम-भाव से किए जाने पर इन दोनों के प्रदाता हैं।

गान्धी ने निष्काम-भाव से सभी कर्मो के करने पर जोर दिया। कर्म करने का यदि कोई प्रयोजन है तो वह आत्मशुद्धि, लोक-संग्रह तथा ईश्वरभक्ति ही है। इन तीन प्रयोजनो को छोडकर कर्म का और कोई प्रयोजन नही होना चाहिए। कर्मों के फल उनके प्रयोजन नहीं हैं। कर्मो मे श्रेष्ठता और निकृष्टता का क्रम नहीं है। सभी कर्म बराबर हैं। उनसे कोई ऊँचा या नीचा नही हो सकता। उनसे आत्मशुद्धि, लोक-संग्रह और ईश्वर-भक्ति को छोड़कर अन्य वस्तु या भाव यदि कोई प्राप्त करता है तो वह कर्ममीमांसा को नही समझता, वह सच्चा कर्म नहीं करता है।

यह भी न सोचना चाहिए कि अमुक कर्म आत्मशुद्धि के लिए हैं, अमुक लोक-संग्रह के लिए और अमुक ईश्वर भक्ति पाने के लिए है। सभी कर्म तीनों प्रयोजनों के लिए होने चाहिए। इनमें से किसी प्रयोजन को छोड़ देने से सच्ची निष्कामता, सच्ची अनासक्ति नहीं आयेगी। अतः जो कर्म आत्म-

शुद्धि के लिए है, वही लोक-संग्रह तथा ईश्वर-भक्ति के लिए भी है। इसी प्रकार जो कार्य लोक-संग्रह या ईश्वर की भक्ति के निमित्त से किया जाता है उससे सभी प्रयोजनों की प्राप्ति होती है। वस्तुतः ईश्वरार्पण किए बिना लोक-संग्रह के निमित्त कर्म नहीं हो सकते। लोक-संग्रह की भावना के बिना आत्मशुद्धि के निमित्त कर्म नहीं किये जा सकते। आत्मशुद्धि के बिना निष्काम कर्म नहीं किये जा सकते।

कर्म का अर्थ बतलाते हुए गान्धी ने कहा "कर्म का व्यापक अर्थ है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना, इसका नाम यज्ञों का जानना है। तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्मा को प्रभुप्रीत्यर्थ लोक-सेवार्थ काम में न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्ष के योग्य नहीं बन सकता। केवल बुद्धि-शक्ति को ही काम मे लावे और शरीर तथा आत्मा को चुरावे तो वह पूरा याज्ञिक नहीं है। इन शक्तियों को प्राप्त किए बिना उसका परोपकारार्थ उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए आत्मशुद्धि के बिना लोक-सेवा असंभव है[६]।"

कर्म की अनिवार्यता बतलाते या सिद्ध करते हुए गान्धी ने भगवद्‌गीता के तर्कों को पेश किया है कि कर्म के बिना शरीर-यात्रा, जीवन-शक्ति, भी नहीं चल सकती और सिद्ध से सिद्ध महापुरुष तथा परमेश्वर भी कर्म में दिनरात रत रहते है।

निष्कर्मता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा—"निष्कर्मता अर्थात मन से, वाणी से और शरीर से कर्म न करने का भाव"[७]। फिर इसी को और विशद करते हुए उन्होंने कहा—"मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति (सूर्य, चन्द्र आदि) यन्त्रवत् काम करती है वैसे मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक किन्तु यन्त्र की भाँति ही नियमित कर्म करना उचित है। मनुष्य की विशेषता यंत्रगति का अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जाने में नहीं है, बल्कि ज्ञानपूर्वक उस गति का अनुकरण करने मे है[८]।" यह मत अद्वैत वेदान्तियों के मत को अधिक स्पष्ट करता है कि ज्ञानी जड़वत् आचार या व्यवहार करता है।

कौन कर्म करने चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गान्धी ने कहा, वर्णाश्रम धर्म, रचनात्मक कार्य-क्रम और सत्याग्रह आन्दोलन।

२ वर्णाश्रमधर्म

हिन्दू धर्म के चार वर्णों और चार आश्रमों में गान्धी की अविचल श्रद्धा थी। उनका कहना था कि गुण और कर्म के अनुसार ही चार वर्णों की सृष्टि की गयी है। ये चार वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपना पुश्तैनी, वर्णीय, पेशा करे। यदि उसका जन्म ब्राह्मण के यहाँ हुआ है तो वह ब्राह्मण का कर्म करे और वैश्य या शूद्र के यहाँ हुआ है तो क्रमशः वैश्य या शूद्र का कर्म करे। स्वधर्म ही करना चाहिए चाहे वह अच्छा न भी समझा जाता हो।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः[६] ॥

अर्थात्

पराये धर्म के सुलभ होने पर भी उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्म में मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है।

पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गान्धी जाति-पाँति को मानते थे और जातियों की श्रेष्ठता-निकृष्टता में विश्वास करते थे। वे तो उनको समूल नाश करने के पक्ष में थे। उनके अनुसार कर्म से कोई जाति नहीं बन सकती। कर्म से कोई छोटा या बड़ा, ऊँच या नीच नहीं हो सकता। भंगी और ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रिय, सब बराबर हैं। वर्ण का सिद्धान्त जाति का सिद्धान्त नहीं है। वर्ण का सिद्धान्त नैतिक है। सामाजिक कर्त्तव्यों के वर्गीकरण और विभाजन का यह सिद्धान्त है। जाति का सिद्धान्त अनैतिक है, उससे कोई लाभ नहीं हो सकता। वर्ण चार हैं, जातियाँ अनेक हैं। समाज की मर्यादा के लिए जितने कार्य आवश्यक हैं, उनको सदैव करना पड़ेगा। एक व्यक्ति सब काम नहीं कर सकता। इस कारण वर्ण के सिद्धान्त की सदा अपेक्षा रहेगी।

कुछ लोग वर्ण के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहते हैं कि वर्ण जन्मना नहीं किन्तु कर्मणा माना जाना चाहिए। शूद्र भी यदि वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण का कार्य करे या कर सकता है तो उसे उसके कर्म के अनुसार वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण मान लेना चाहिए। आधुनिक युग में डा० भगवान दास ने इस मत का समर्थन किया है।

गान्धी इसके विपरीत थे। वे जन्मना वर्ण के हामी थे। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण सभी को जन्मना ही शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण मानना चाहिए, कर्मणा नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जन्म से प्राप्त वर्णगत कार्य करके ही जीविका-निर्वाह करना चाहिए। वर्ण का सिद्धान्त ही जीविका-निर्वाह तथा लोक-मर्यादा की रक्षा करने के लिए बनाया गया है। यदि कोई आदमी किसी ऐसे काम के योग्य है जो उसे उसको जन्म से नहीं मिला, तो वह व्यक्ति उस काम को कर सकता है किन्तु वह उस कार्य से जीविका-निर्वाह न करे, उसे वह निष्काम भाव से, सेवाभाव से, करे और जीविका-निर्वाह के लिए अपना वर्णगत, जन्म से प्राप्त कर्म ही करे[१०]।

खान-पान और शादी-विवाह के बारे में उन्होंने कहा कि इन पर कोई बन्धन नहीं होना चाहिए। सभी वर्णों में परस्पर खान-पान और शादी-विवाह होने चाहिए। लोगों के प्रश्न पूछे जाने पर कि तब वर्ण की मर्यादा क्या रहेगी? उन्होंने कहा कि वर्ण पिता के अनुसार निश्चित किया जाय, जैसी कि प्रचलित प्रथा है, माता के अनुसार नहीं। चूंकि वर्ण केवल सामाजिक-नैतिक संस्था है, न कि धार्मिक, अतः इस प्रकार करने से हिन्दू धर्म की कथमपि क्षति नहीं होती। वर्ण के कारण किसी से वेदादि पढ़ने तथा मन्दिर में जाने के अधिकार छीने नहीं जा सकते। सभी मनुष्य बराबर है। सबके अधिकार बराबर है। सभी को सब कर्म करने की स्वतन्त्रता है। पर जैसे सब प्रकार की स्वतन्त्रता में कुछ नियन्त्रण रहता हैं वैसे कर्म की स्वतन्त्रता में भी यह नियन्त्रण है कि पिता के वर्ण के अनुकूल जीविका-निर्वाह के लिए कोई पेशा अख्तियार करना चाहिए और अन्य सभी कर्म अवैतनिक और सेवाभाव से करना चाहिए।

स्पष्ट है कि गान्धी ने जैसा चाहिए, वैसे ही वर्ण के सनातन सिद्धान्त की रक्षा की। इस युग में इसकी आवश्यकता थी। जन्मना वर्ण को बदलकर कर्मणा वर्ण मान लेने से लोक-संघर्ष बढ़ जायेगा, बेकारी बढ़ेगी, कतिपय कर्म बन्द हो जायेंगे और फलतः समाज का उच्छेद हो जायगा।

पुनश्च एक दृष्टि से सभी हिन्दू ब्राह्मण हैं क्योंकि सब अपने-अपने वर्णगत कर्म को निष्काम भाव से करने से ब्रह्मविद्या प्राप्त हो सकती है, मोक्ष मिल सकता है। दूसरी दृष्टि से सभी लोग आज शूद्र हैं क्योंकि वे समाज के सेवक हैं, वे श्रमजीवी हैं। स्मृति भी कहती है—

कलौ न क्षत्रियाः सन्ति कलौ नो वैश्यजातयः ।
ब्राह्मणाश्चैव शूद्राश्च कलौ वर्णद्वयं स्मृतम्[११] ॥

अर्थात्

कलियुग (वर्तमान युग) में कोई न क्षत्रिय हैं न वैश्य । कलि में केवल ब्राह्मण और शूद्र—ये ही दो वर्ण माने गये हैं ।

जो शारीरिक श्रम करके जीविका-निर्वाह करे वह शूद्र है और जो बौद्धिक श्रम करके जीविका-निर्वाह करे वह ब्राह्मण है। फिर जब बौद्धिक और शारीरिक श्रम का भेद न रह गया, बुद्धिजीवियों के लिए शरीर-श्रम अनिवार्य रखा, गया और शरीर-श्रमजीवियों के लिए बुद्धि-श्रम का विधान किया गया तो निःसन्देह सभी लोग शूद्र हो गये । पर इसे बुरा नहीं समझना चाहिए । यदि इसके साथ यह भी मानें कि सभी लोग ब्राह्मण हैं अर्थात् ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं और सिर्फ सेवाभाव के लिए श्रम-जीवी हैं तो वस्तु-स्थिति बहुत सन्तोषजनक हो जाती है ।

यथार्थतः वर्ण की संस्था धार्मिक न होकर आर्थिक है । इसीलिए गान्धी इसे केवल हिन्दुओं के ही लिए नहीं वरन् ईसाइयों और मुसलमानों के लिए भी, अर्थात् प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक समझते हैं[१२] ।

"आश्रम वर्ण का अनिवार्य अनुषंगी है[१३] ।" आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । मनुष्य की आयु १०० साल की सामान्यतः मानी जाती है । मनुष्यता की सभी विशेषताओं को विकसित करने के लिए इस आयु को चार बराबर भागों में बाँट कर २५-२५ वर्ष के लिए क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की व्यवस्था की गयी है । आज ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ तो बिलकुल लुप्त हो गये हैं । गृहस्थ और संन्यास आश्रम अत्यन्त दूषित रूप में चल रहे हैं । शंकराचार्य की भाँति गान्धी ने भी समझा कि भारतीय संस्कृति की सनातन समृद्धि का मूल कारण आश्रम की संस्था है और इस कारण उन्होंने इसका पुनरुद्धार किया । "चारों आश्रम प्रगति के सोपान हैं और अन्योन्याश्रय हैं । इसलिए कोई वानप्रस्थ और संन्यास में प्रवेश नहीं कर सकता जब तक कि वह ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के नियमों का पालन नहीं करता । आश्रम का नियम आज लुप्त है । इसको तभी पुनर्जीवित किया जा सकता है जबकि वर्ण के नियम का पालन किया जाय क्योंकि दोनों का अपरिहार्य संबन्ध है[१४] ।"

चारों आश्रम की जड़ ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की चर्या ही चारों का लक्ष्य है। ब्रह्मचर्य का विधान गान्धी वैसे ही करते हैं जैसे प्राचीन ऋषियों ने किया था। गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में भी पूर्ण ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है।

पुनश्च गृहस्थ के लिए गान्धी ने कुछ अर्वाचीन नित्य कर्म बताये, जैसे चर्खा-यज्ञ। इसको ही उन्होंने नित्य कर्म की परंपरा की भाँति अन्य आश्रमों का आधार माना। शरीर-श्रम, आतिथ्य-सरकार, केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए मैथुन, नित्य भगवत्प्रार्थना (व्यक्तिगत तथा पारिवारिक) और देश की यथाशक्ति सेवा करना—उन्होंने अर्वाचीन गृहस्थ आश्रम के अन्य आवश्यक कर्म माने। वानप्रस्थ का तो उन्होंने आज प्रचुर प्रचार ही किया। यह उन लोगों का आश्रम है जो गृहस्थ आश्रम छोड़कर ब्रह्म की खोज में जंगल जाया करते थे। गान्धी ने इसमें थोड़ा परिवर्तन किया। उन्होंने ब्रह्म की खोज में गृहस्थ आश्रम को छोड़कर समाज में रहकर सामाजिक और राष्ट्रीय कर्म करने की व्यवस्था की। इन्हीं लोगों को राष्ट्रीय नेता बनना है, राष्ट्र का कर्णधार बनना है। इनका परिवार समस्त समाज होता है। इस कारण ये पक्षपातरहित होते हैं। सभी के लिए वानप्रस्थ आवश्यक है, इस कारण यह प्रजातांत्रिक भी है। गान्धी के इस नए अर्थ को देखकर इसे हम समाजप्रस्थ भी कह सकते हैं।

संन्यास आश्रम का भी गान्धी ने कुछ नया अर्थ किया। वे वेशभूषा और दण्ड-कमण्डलु को संन्यास का अंग नहीं मानते थे। सन्यासी वह है जो पूर्ण अनासक्त है, निष्काम है, तथापि अपना नित्य कर्म करता है। उसका सदा ध्यान ब्रह्म पर रहता है। अन्त में वह ब्रह्म हो जाता है। निष्काम सेवा करना संन्यासी का अनिवार्य लक्षण है। गान्धी के वानप्रस्थ को पूर्ण निष्काम बना देने से वह संन्यास बन जाता है। प्राचीन संन्यास से इस संन्यास को भिन्न करने के लिए आज प्रायः इसको सामाजिक संन्यास या राजनैतिक संन्यास कहा जाता है। संन्यास के आरंभ में मनुष्य कुछ-न-कुछ पद पर निष्काम काम कर सकता है। पर अन्त में उसे अपने पद से बिलकुल अवकाश लेना पड़ता है। इस अवकाश की अवस्था में उसे केवल ज्ञानवार्ता तथा नित्य कर्म करना पड़ता है।

३ रचनात्मक कार्यक्रम

समाज और राष्ट्र की सेवा करने के लिए गान्धी ने एक रचनात्मक कार्यक्रम देश के सामने रखा। उनके कर्ममार्ग का आवश्यक अंग समाज-सेवा है। व्यक्ति को अपने तक ही सीमित रहने पर सच्चा सुख नहीं मिलता। सत्याग्रही दार्शनिक ज्यों-ज्यों प्रगति करता है त्यों-त्यों उसका अपना अस्तित्व विस्तृत होता जाता है। उसका 'स्वधर्म बढ़ता जाता है, वैयक्तिक जीवन के निर्वाह हो जाने पर सत्याग्रही दार्शनिक को व्यक्तित्व से समाजत्व को प्राप्त करना है। व्यक्ति को समाज बनना है। तब वह अपने में समाज को और समाज में अपने को देख पायेगा। कुछ इन्हीं दृष्टिकोणों से गान्धी ने सेवा-धर्म स्वीकार किया। उनका कहना है कि "मैं जो इस प्रकार समाज-सेवा में तन्मय हो गया था उसका कारण आत्मदर्शन की आकांक्षा थी। ईश्वर की पहिचान सेवा से ही होगी यह मानकर मैंने सेवाधर्म स्वीकार किया था। भारत की सेवा करने का कारण यह था कि वह मुझे सहज प्राप्त थी, उसकी ओर रुचि थी। उसे मुझे ढूंढ़ने नहीं जाना पड़ा था[१५]।"

सेवा करने के लिए गान्धी ने आश्रमों की स्थापना की और वहाँ से सेवकों को उत्पन्न किया। उनके सामने उन्होंने एक रचनात्मक कार्यक्रम रखा जिसमें १९ बातें हैं। उनकी इच्छा थी कि काँग्रेस तथा समस्त भारतीय जन इन कामों को करें और कहना नहीं होगा कि इसमें उनको सफलता भी काफी मिली।

१९ कार्य ये हैं :—कौमी-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, मद्य-निषेध, खादी, दूसरे ग्रामोद्योग, गाँवों की सफाई, बुनियादी तालीम, प्रौढ़-शिक्षा, स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार मिलना, आरोग्य के नियमों की शिक्षा, प्रान्तीय भाषाओं का विकास, राष्ट्रभाषा का विकास, आर्थिक समानता, किसानों की उन्नति, मजदूरों की भलाई, आदिवासियों का सुधार, कुष्ठरोगियों की सेवा, विद्यार्थियों का कर्त्तव्य तथा गो-सेवा। इन कार्यों से देश में सामाजिक सेवा की चेतना उत्पन्न हुई। गान्धी ने देश के प्रत्येक कोने को अपनी सेवा से पहिचाना और लोगों ने उन्हें भी पहिचाना। सेवा से उनको अवसर मिला कि वे अपने हृदय का, अपनी अन्तरात्मा का, समस्त भारतीयों की अन्तरात्मा से तादात्म्य स्थापित करें। सच्ची सेवा की भावना उत्पन्न करने के लिए वे कुष्ठरोगियों की सेवाशुश्रूषा करने को कहते थे। समाज में कुष्ठ-

रोगी बहुत पापी, घृणित और त्याज्य माना जाता है। उसकी सेवा करने से किसे प्रेम नही मिल सकता, कौन घृणा और द्वेष को अपने हृदय से निकाल नही सकता ?

ग्रामोद्योग, खादी और गोसेवा गान्धी के प्रधान कार्य थे। ग्रामोद्योगों को वे इसलिए आवश्यक समझते थे कि उनसे हमारे ग्राम परिपूर्ण हो सकते थे। गान्धी को प्रायः लोग औद्योगीकरण का विरोधी मानते हैं। सचमुच उन्होंने यन्त्रों द्वारा औद्योगीकरण को प्रधानता नहीं दी। पर उन्होंने उससे ग्रामोद्योगों की सहस्थिति कायम की है। उनके सामने कुछ परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण उन्हे ग्रामोद्योगो को औद्योगीकरण से अधिक महत्व देना पडा। आज की भिन्न परिस्थितियो मे हम दोनो का समन्वय दूसरी तरह से भी कर सकते हैं। पर छोटे उद्योग-धन्धों का समूल उच्छेद करने मे अहित है। इससे सामाजिक क्षति होगी। दार्शनिक सत्यार्थी को अपने कुटीर उद्योग-धन्धो से जितना सत्य का दर्शन प्राप्त होता है उतना मशीनो के कारखाने मे काम करने वालों को नही मिल सकता है।

खादी पर जोर देते हुए गान्धी ने सूत कातना, बुनाई करना आदि पर जोर दिया। खासतौर से चर्खे से सूत कातना उनकी मुख्य शिक्षा थी। वे सदा कहते थे कि चर्खा उनके दर्शन का प्रतीक है। चर्खे का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। उससे जितना आर्थिक लाभ होता है उससे कई गुना आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक लाभ होता है। चर्खे का संगीत निराला है। तिरुवल्लुवर, कबीर और इमाम गज्जाली महान् रहस्यवादी थे। वे भी बुनकर का पेशा करते थे। एक तमिल का, दूसरा हिन्दी का और तीसरा अरबी का सर्वश्रेष्ठ महान् रहस्यवादी है। कातने और बुनने मे जो आध्यात्मिक लाभ तिरुवल्लुवर, कबीर और गज्जाली को हुआ था, उससे कम गान्धी को नहीं हुआ था। भावों को वश मे करने के लिए, उनका नियन्त्रण करने के लिए, उन्हें एकनिष्ठ बनाने के लिए, व्यर्थ समय-यापन को दूर करने के लिए, ध्यान बढ़ाने के लिए, जितना कमाना उतने पर ही निर्वाह करने के लिए, कल की चिन्ता न करने के लिए, आत्मविश्वास पाने के लिए, सामाजिकों के पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग को समझने के लिए और इस प्रकार कितने ही अन्य कार्यों के लिए प्रतिदिन नियमित चर्खा कातना या इस प्रकार का कोई अन्य कार्य करना अत्यंत उपयोगी है। स्पिनोजा का शीशा साफ करना और चश्मा बनाना, जर्मन ध्यानयोगी बाहमी

का जूता बनाना, संत रविदास का जूता बनाना, आदि
सामने प्रस्तुत हैं जिनसे पता चलता है कि कोई न कोई
काम करने से आध्यात्मिक जीवन में लाभ होता है।
प्रगति या विकास तथा आध्यात्मिक अनुभव का प्रतीक
कथन ठीक है कि गान्धी के लिए यह आर्थिक, राजनैतिक
णिक, नैतिक और सांस्कृतिक कामनाओं को पूर्ण करने
रानडे ने चर्खे या चक्र के सात ऐतिहासिक उदाहरणों
है जिनके अनुसार इसका दार्शनिक मूल्य निर्धारित होना च
का यज्ञ-चक्र जिसको गान्धी चर्खा यज्ञ कहते है और
चर्चा करते हैं[१७]। यज्ञचक्र के विषय में गान्धी गीता
वाक्य मानते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति

(२) इस्लाम मे स्वर्गीय चक्र का वर्णन है। यह मिस्र के
नोमन बेन मुहम्मद की रचनाओं में मिलता है। इसमें ब्रह्
समझा गया है। (३) ऋग्वेद और बृहदारण्यक उपनिषद्
का वर्णन है जिसके अनुसार विश्व की समस्त वस्तुएँ च
बाने के रूप में हैं। (४) भागवत पुराण मे नक्षत्रताराग्रहसंकु
के नाम से खगोल शास्त्रीय ढंग से इसी विश्वचक्र का निरूपण
बुद्ध ने अपने धर्म-चक्र में द्वादश निदानों को चक्राकार बता
ही नहीं बल्कि संसार को चक्रवत् नित्य परिवर्तनशील भी
कबीर ने "आठ कमल दल चर्खा डोलै" वाले योग के आठ
कों भी जिनका दर्शन योगियों को ही हो सकता है। (७) पर
महान और इनका मलरूप सुदर्शन चक्र है जिसका श्रेष्ठ
जिसने परीक्षित् की माँ के पेट में रक्षा की और जिसको
अपनी रक्षा करते हुए नेव के रूप में देखो थे। "चक्र सुदर्श
यह प्रसिद्ध लोकोक्ति इसी चक्र को बतलाती है। यह सुदर्शन
स्थिर भी है। तदेजति तन्नैजति, इस ढग से ईशावास्योपनिष
किया है। सुदर्शनचक्र ही अन्य छः चक्रों का प्राण है।
निराला है। इसी के बारे में कबीर कहते हैं—

चर्खा तेरा रंग फिरंगी।
गुइं गुइं गुइं बोले॥

इस प्रकार चर्खा यज्ञचक्र के रूप में आर्थिक, सामाजिक और नैतिक दुःखों को दूर करता है, स्वर्गीयचक्र, विश्वचक्र तथा शिशुमार चक्र या खगोल-चक्र के रूप में उदात्त भावनाओं को उत्पन्न करता है, धर्मचक्र के रूप में संसार की तात्त्विकता पर प्रकाश डालता है और प्रगति या विकास का बोध कराता है, योग-चक्र के रूप में तारक ध्यान-धारणा को निर्धारित करता है और सुदर्शनचक्र के रूप में ज्ञान का प्रदाता है तथा सब तरह से रक्षक है। किन्तु रवीन्द्रनाथ टैगोर को चर्खे के इन मूल्यों पर शंका थी, आपत्ति थी और उन्होंने इसका विरोध भी किया। पर गान्धी ने उनके विरोध का कड़ा जवाब दिया और चर्खे के सप्तविध महत्त्व को स्थापित किया [१८]।

गो-सेवा को गान्धी बहुत व्यापक अर्थ देते थे। इससे वे भूतमात्र की सेवा समझते थे। गाय भूतमात्र की प्रतीक है। वह दया की मूर्ति है। उसकी सेवा करने का अभिप्राय है पशुमात्र से, जीवमात्र से, या भूतमात्र से प्रेम करने का पाठ सीखना।

सेवा से हम अपनी शक्ति को पहचानते हैं और दूसरे हमें पहचानते हैं। हम प्रेम और दया का पाठ सीखते हैं। गान्धी के रचनात्मक कार्यक्रम का परम लक्ष्य यही था यद्यपि वह अप्रत्यक्ष था और प्रत्यक्ष लक्ष्य आर्थिक तथा सामाजिक और राजनीतिक सुधार ही था। पर गान्धी के साथ काम करने वालों का मत है कि स्वयं गान्धी इन कार्यों के आध्यात्मिक प्रभाव पर अधिक महत्त्व देते थे।

४ सत्याग्रह या असहयोग आन्दोलन

हम वर्णकर्म को वैयक्तिक या पारिवारिक कर्म, रचनात्मक कार्यक्रम को सामाजिक या राष्ट्रीय कर्म और सत्याग्रह-आन्दोलन को राजनैतिक कार्य कह सकते हैं। गान्धी दर्शन की उस व्यापक परिभाषा को मानते थे जिसके अनुसार वह सभी शास्त्रों और कलाओं का आदि, मध्य और अवसान है। राजनीति भी उनके दर्शन का अंग है। राजनैतिक स्वतन्त्रता न होने से सामाजिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। सामाजिक स्वतन्त्रता न होने से पारिवारिक और वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। अतः जिसे सच्ची

वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है, जिसे अपने सच्चे अस्तित्व को देखना है, उसे राजनीति में भी उतरना पड़ेगा। हाँ, यदि राजनैतिक स्थिति ऐसी है कि उसमें सत्याग्रही दार्शनिक को किसी प्रकार का नुकसान नहीं होता तो वह राजनीति से दूर रह सकता है। पर यदि राजनैतिक स्थिति स्वस्थ नहीं है, यदि राष्ट्र परतन्त्र है अथवा यदि राष्ट्र की सरकार अच्छी नहीं है, तो फिर सत्याग्रही दार्शनिक को राजनीति में भी कूदना पड़ता है।

यही कारण था कि गान्धी राजनीति में उतरे। उन्होंने सत्याग्रह आन्दोलन का संचालन किया। यह आन्दोलन विदेशी सरकार के साथ लड़ाई थी। पर यह अहिंसा की लड़ाई थी। इसमें लड़ने वाला खुद अपने ऊपर आपत्ति लाता था, जेल जाता था, यातनाएँ सहता था, पर मन, वाणी और कर्म से अपने शत्रु को चोट नहीं पहुँचाता था, उल्टे वह अपने शत्रु से प्रेम करता था। इस लड़ाई के फलस्वरूप भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिली और गान्धी राष्ट्रपिता कहलाए।

प्रायः लोग गान्धी को राजनैतिक सत्याग्रही के रूप में ही जानते हैं। यद्यपि गान्धी ने बार-बार कहा कि मैं आध्यात्मिक हेतुओं से ही राजनीति के क्षेत्र में उतरा हूँ, मेरे राजनैतिक जीवन का लक्ष्य हरि-दर्शन है, तथापि लोगों ने उनकी बात पर संशय किया। लोगों ने उनको कूटनीतिज्ञ समझा। पर जो व्यक्ति सदा सच्चाई से जीवन बिताता है, जिसने सदा सत्य बोलने का अखंड व्रत लिया है, उसके शब्दों में विश्वास न करना बहुत बुरी बात है। यह मनुष्य की उस कमजोरी को बतलाती है कि मनुष्य मनुष्य में विश्वास न करे। भूलकर भी गान्धी के मुख से कभी ऐसा शब्द नहीं निकला जिसके आधार पर यह कहा जाय कि उन्होंने कूटनीति की दृष्टि से कहा कि वे राजनीति में आध्यात्मिक हेतुओं से भाग ले रहे हैं। उनके साथियों ने उनको पहचानने में भूल न की। उनका एकस्वर से मत है कि गान्धी मुख्यतः आध्यात्मिक थे और गौणतः राजनैतिक। उनकी राजनीति आध्यात्मिक है। गान्धी का बड़प्पन उनकी बहादुरी के कारनामों की अपेक्षा उनके पवित्र जीवन तथा आत्म-शक्ति के प्रदर्शन में अधिक है, विशेषतः उस युग में जबकि उसका मूल्य घट रहा था।

समाज को सामाजिक और आर्थिक स्वाराज्य मिलेगा और वर्णाश्रम धर्म से व्यक्ति तथा परिवार को नैतिक स्वाराज्य मिलेगा। स्वाराज्य के इन त्रिविध रूपों की प्राप्ति होने से ही हम कह सकते हैं कि किसी भारतीय व्यक्ति को पूर्ण स्वाराज्य मिल सकता है।

५ एकादश व्रत

वर्णाश्रम धर्म, रचनात्मक कार्यक्रम और सत्याग्रह आन्दोलन को करने में निष्कामता होनी चाहिए। यह निष्कामता एकादश गुणों के सम्पादन से प्राप्त हो सकती है। एकादश गुणों को व्रत भी कहा जाता है क्योंकि इनका व्रत की तरह पालन होना चाहिए अर्थात् स्वेच्छा से दृढ़ संकल्पपूर्वक इन पर आचरण करना चाहिए। ये एकादश व्रत मराठी में विनोबा के शब्दों में यों हैं—

अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य, असंग्रह।
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना।
ही एकादश सेवावीं नम्रत्वें व्रतनिश्चये॥[२१]

अर्थात्

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, अभय, सब धर्मों के प्रति समानता, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण; इन ग्यारह व्रतों का सेवन व्रत के निश्चय से करना चाहिए।

इनमें से प्रथम पाँच को योग-दर्शन में यम कहते हैं और जैन दर्शन में महाव्रत। शरीर श्रम, अस्वाद, अभय, सर्वधर्म-समभाव, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण को गान्धी ने परम्परागत पाँच यमों या महाव्रतों में अपने अनुभव के अनुसार जोड़ा है। अभय को छोड़कर शेष पाँच गान्धी की मौलिक देनें हैं। शरीर-श्रम, सर्वधर्म-समभाव, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण—ये चारों गुण या व्रत गान्धी के रचनात्मक कार्यक्रम के सारभूत अंग हैं।

इन सब गुणों या व्रतों का प्राण अहिंसा है। अहिंसा सब गुणों की गुणता है, ठीक वैसे ही जैसे एक ईश्वर सभी देवों का देवता है। सभी गुणों के स्वरूप को समझ लेने पर हम इस सिद्धान्त की विवेचना करेंगे।

६. अहिंसा

गान्धी 'अहिंसा परमो धर्मः', अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है, यह मानते थे। बौद्ध, जैन तथा योग दर्शनों में अहिंसा की परिभाषाएं मिलती हैं पर वे इतनी व्यापक नहीं हैं जितनी कि गान्धी द्वारा दी गई अहिंसा की परिभाषा है। उनका कहना है—"यह अहिंसा किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्याभाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है[२२]।" "अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम[२३]। बौद्ध धर्म दर्शन में जो अर्थ करुणा का है अथवा वैष्णव दर्शन में जो अर्थ दया का है, वही अहिंसा का सार है। न धर्मो दयापरः—दया से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है और अहिंसा परमो धर्मः—और अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है, इन दोनों वाक्यों में धर्म शब्द का एक ही अर्थ है और इससे दया और अहिंसा पर्यायवाची हैं। इस प्रकार देखने से अहिंसा केवल हिंसा का निषेध ही नहीं किन्तु कुछ विधायक अर्थ भी देगी। गान्धी इसके विधायक और प्रतिषेधक दोनों अर्थों को महत्त्व देते थे।

गान्धी के पूर्व दार्शनिकों तथा धार्मिकों ने व्यक्तिगत स्तर पर अहिंसा का पालन किया था। इसको वे व्यक्ति का ही गुण मानते थे। यह व्यक्ति के ही लिए आवश्यक समझी जाती थी। समाज, राष्ट्र और विश्व में अहिंसा का संस्थागत पालन नहीं होता था। यह विश्वास था कि जीवन हिंसा पर निर्भर है, समाज, राष्ट्र, विश्व, सभी हिंसा पर अवलम्बित है। गान्धी ने अहिंसा का पालन सामाजिक, राष्ट्रीय तथा सर्वभौम स्तर पर किया। उन्होंने हिंसामात्र का खण्डन किया और अपने जीवन तथा सिद्धान्त से दिखलाया कि जीवन, समाज, राष्ट्र, विश्व सभी अहिंसा पर निर्भर हैं। अहिंसा समष्टि के लिए वैसे ही आवश्यक है जैसे वह व्यष्टि के लिए है।

अहिंसा के बिना हिंसा टिक नहीं सकती है। चूंकि कुछ लोग अहिंसा का पालन करते हैं, या सभी लोग बहुत-सी छोटी-मोटी बातों में अहिंसा का पालन करते हैं अतः किसी व्यक्ति विशेष की हिंसा कुछ समय के लिए टिक जाती है। पर हिंसा अपना नाश स्वयं करवाती है। वह आत्मघातक है। सभी हिंसा करने लगें तो किसी की हिंसा कारगर नहीं हो सकती, उल्टे समाज का, व्यक्ति का, उच्छेद हो जायगा। हिंसा सर्वनाशक है।

गान्धी के अहिंसा के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा कि 'अहिंसा का तकाजा है कि मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से अपने अधिकारों को प्राप्त करने के संग्राम में केवल इस प्रकार बढ़ना चाहिए कि वे मानवता के अपने मूलभूत ऋण को भंग न करें, अर्थात् जीवन के प्रति पूज्य-भाव बनाये रखें। यह कहना कि चूंकि कतिपय वर्गों के अधिकार और प्रभाव आरम्भ में हिंसा से प्राप्त किये गये थे और अब भी हिंसा से सुरक्षित किये जा रहे है, अतः वे केवल हिंसा से ही नष्ट किये जा सकते है, एक अनन्त कुचक्र पैदा करता है, अनवस्था-दोष उत्पन्न करता है; क्योंकि समाज की वर्तमान व्यवस्था के खिलाफ कुछ लोगों की काल्पनिक या वास्तविक शिकायतें सदा रहेंगी और वे दावा करेंगे कि उन्हें नैतिक ऋणों से छूट दी जाय ताकि वे हिंसा या मारकाट द्वारा अपने अधिकार रूपी लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। हिंसा के इस कुचक्र को कहीं खत्म करना है, अन्यथा यह बढ़ता ही जायगा। गान्धी चाहते हैं कि इस दूषित चक्र को भंग करने का प्रथम सौभाग्य उनके देश भारत को मिले[२४]।'' कहना नहीं होगा कि गान्धी की यह मनोकामना पूर्ण हो गयी।

स्पष्ट है कि हिंसा को हिंसा के द्वारा समाप्त करने में अनवस्था दोष है। हिंसा हिंसा के द्वारा कथमपि समाप्त नहीं की जा सकती। अतः यदि उसको दूर करना है, तो एकमात्र उपाय अहिंसा का अवलम्बन है।

निर्मलकुमार बोस ने इस सिद्धान्त पर और प्रकाश डाला है—''सत्य प्रमेयः है। उसको प्राप्त करने का साधन अहिंसा है। सत्य से अहिंसा पर आ पहुंचना गान्धी के लिए तर्कसम्मत तथा स्वाभाविक कदम था। चूंकि कोई दो पुरुष सत्य को कभी एक ही तरह नहीं देखेंगे, इसलिए उन्होंने तर्क किया कि किसी को सत्य के अपने निजी अनुवाद का प्रचार करने के लिए हिंसा की शरण नहीं लेनी चाहिए। उसका सुन्दर तरीका यही है कि जहाँ तक सत्य की प्राप्ति हुई है, उसके आधार पर अपना जीवन बिताया जाय और जब बलिदान तथा सहिष्णुता की मांग हो तो अपनी सत्यनिष्ठा के फलस्वरूप दुःख उठाया जाय; बलिदान किया जाय। सत्य के लिए दुःख उठाना सत्य को पवित्र बनाता है। वह हमारी ईमानदारी की परीक्षा लेता है। जब हम भूल करते हैं तो यह हमें ठीक रास्ते पर लाता है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति हिंसा का अवलम्ब लेता है, तो वह नहीं जानता कि वह कहाँ पर खड़ा है,

क्योंकि जो गर्व हमें सुझाता है कि हमें सम्पूर्ण सत्य मिला है और इस कारण
हमें हक है कि हम सत्य का संकुचित दृष्टिकोण रखने वालों को दंड दे,
वह हमको इतना अंधा बना देता है कि हम उस लकीर के फकीर बन जाते
हैं जिसने हमारी प्रगति को रोक रखा है। विज्ञान की आत्मा के साथ
निश्चितता की भावना का मेल नहीं बैठता। अतः नम्रता, हिंसा से परहेज
रखने का दृढ संकल्प और सत्य के अपने सीमित या संकुचित दृष्टिकोण को
प्रचार करने के लिए परिश्रम तथा आत्म-बलिदान का मार्ग अपनाना गान्धी
की मूलतः वैज्ञानिक तथा जनतांत्रिक दृष्टियों के तर्कसंगत निष्कर्ष हैं[२५]।"

अहिंसा अचूक है, वह कभी नाकाम नहीं जाती। "सच्ची अहिंसा की
ताकत का एक माशा भी कभी जाया नहीं जा सकता[२६]। लोगों की इस शङ्का
पर कि गांधी की अहिंसक सेना के अधिकांश भारतीयों ने १९४७ में पन्द्रह
अगस्त के आस-पास खून-खच्चर किया है, हिन्दू-मुस्लिम ने एक दूसरे का
वध किया, गांधी ने स्वीकार किया कि उन्होंने जो कुछ सिखाया उससे लोगों
ने अहिंसा के बजाय मन्द विरोध ही सीख सके थे। अहिंसा मन्द-विरोध
नहीं है। इस प्रसंग में किशोरलाल मशरूवाला कहते हैं—

"अहिंसा कोई निष्क्रिय अभावात्मक मनोवृत्ति नहीं है, बल्कि वह प्रवाह
के विरुद्ध चलने की एक क्रियात्मक और भावनाप्रधान प्रवृत्ति है[२७]।" इस
प्रकार किशोरलाल मशरूवाला तथा रिचर्ड ग्रे ने अपनी-अपनी पुस्तकों में
अहिंसा की शास्त्रीय व्याख्या की है। अब तो वह एक विज्ञान हो गया है।
किशोरलाल भाई ने बिलकुल ठीक कहा है कि यद्यपि अहिंसा-तत्व को प्राचीन
ऋषियों ने खोजा था तथापि गान्धी ने ही अपने जीवन में प्रयत्न करके
आविष्कार किया कि "हिंसा के समान इसका (अहिंसा का) भी नानाविधि
उपयोग और विकास हो सकता है, यह एक बलवान् शक्ति है, और इसके
गर्भ में अनेक प्रसुप्त और अनाविष्कृत विद्याएं (प्रयुक्तियां) होनी चाहिए[२८]।"

जैनियों ने अहिंसा पर अधिक जोर दिया। पर उनकी अहिंसा कर्म-
संन्यास पर निर्भर थी। वह विरक्तों की अहिंसा थी। गान्धी की अहिंसा
कर्मक्षेत्र की अहिंसा है, वह क्रियाशीलता है।[२९]

अहिंसा कमजोरों का साधन या अस्त्र नहीं है किन्तु बलवानों का हथियार
है। "दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति लोकमत है और वह सत्य और अहिंसा से
पैदा हो सकता है[३०]।" "बहादुरी तो मुझमें तब आयगी जब मैं मारा जाऊँ

तो भी मारने वाले के भले के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता रहूं। ईश्वर का नाम भी मैं केवल मुंह से न लूंगा, पर उसे अपने हृदय में जिन्दा बैठा हुआ देखूंगा[२१]।" जो कमजोर है, जो डरपोक है, वह अहिंसक नहीं हो सकता। साहसी और बलवान् ही अहिंसक हो सकता है। फिर वही महसूस करेगा कि पशुबल, बाहुबल, से कहीं अधिक आत्मबल है जो अहिंसा द्वारा ही मिलता है।

गान्धी ने अहिंसा की सफलता की कुछ शर्तें यों बतलायीं :—

१—"अहिंसा परम श्रेष्ठ मानवधर्म है, पशुबल से वह अनंत गुना महान् और उच्च है।"

२—अन्ततोगत्वा वह उन लोगों को कोई लाभ नहीं पहुंचा सकती, जिनकी उस प्रेमरूपी परमेश्वर में सजीव श्रद्धा नहीं है।

३—मनुष्य के स्वाभिमान और सम्मान-भावना की वह सबसे बड़ी रक्षक है। हाँ, वह मनुष्य की चल-अचल सम्पत्ति की हमेशा रक्षा करने का आश्वासन नहीं देती, हालांकि अगर मनुष्य उसका अभ्यास कर ले तो शस्त्र-धारियों की सेनाओं की अपेक्षा वह उसकी अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकती है।

४—जो व्यक्ति और राष्ट्र अहिंसा का अवलम्बन करना चाहें, उन्हें आत्मसम्मान को छोड़कर, अपना सर्वस्व (राष्ट्र को तो एक-एक आदमी) गँवाने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसलिए वह दूसरों के मुल्कों को हड़पने, अर्थात् आधुनिक साम्राज्यवाद से जो अपनी रक्षा के लिए पशुबल पर निर्भर रहता है, बिलकुल मेल नहीं खा सकता।

५—अहिंसा एक ऐसी शक्ति है, जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं, बशर्ते कि उस करुणामय में तथा मनुष्य मात्र में सजीव श्रद्धा हो। जब हम अहिंसा को अपना जीवन-सिद्धान्त बना लें तो वह हमारे सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त होनी चाहिए। यों कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़ने से लाभ नहीं हो सकता।

६—यह समझना एक भयंकर भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही लाभदायक है, जनसमूह के लिए नहीं। जितना वह व्यक्ति के लिए धर्म है उतना ही वह राष्ट्रों के लिए भी धर्म है[२२]।"

अहिंसा का अभ्यास करना आवश्यक है, केवल उसका विचार किसी को अहिंसक नहीं बना सकता। रिचर्ड ग्रेग बिलकुल ठीक कहते हैं कि अहिंसा का अभ्यास न करने के कारण अहिंसा का सिद्धान्ततः समर्थन करने वाले आइन्स्टाइन्, बर्ट्रेण्ड रसल तथा ए० ए० मिल्ने ने जब उनके देश पर आक्रमण किए गए तब विगत विश्व युद्ध का समर्थन किया[३३]। अहिंसक कभी युद्ध का समर्थन नहीं कर सकता, आक्रमणकारियों से सुरक्षा करने के लिए भी। गान्धी का कहना है कि जब दो राष्ट्रों के बीच युद्ध हो तो अहिंसा को मानने वाले व्यक्ति का धर्म उस युद्ध को रोकना है। जो उस धर्म का पालन न कर सके, जिसमें विरोध करने की शक्ति न हो, जिसे विरोध करने का अधिकार प्राप्त न हुआ हो, वह युद्ध कार्य में शामिल हो जाय और शामिल होते हुए भी उसे चाहिए कि उसमें से अपने आपको, अपने देश को और वैसे ही जगत् को उबारने में भी दिल से कोशिश करता रहे[३४]।" इस प्रकार कहकर गान्धी ने भी सन् १९१४ की लड़ाई में अहिंसक की तरह भाग लिया और उन्होंने उस युद्ध का समर्थन किया। अहिंसा का सम्यक् विकास न होने से आत्मरक्षा के लिए कोई देश या राष्ट्र युद्ध का सहारा ले सकता है। पर यदि कोई अहिंसा का महाभ्यासी हो जाय तो बिना युद्ध के ही वह उस राष्ट्र की रक्षा कर या करवा सकता है। यदि उसने संसार में अहिंसा के पक्ष में और हिंसा के विपक्ष में जबर्दस्त लोकमत बनाया है तो वह बिना युद्ध के ही अपने देश की सुरक्षा कर सकता है। अतः अहिंसक को लोकमत बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए।

गान्धी का विचार था कि जैसे उन्होंने देश को सिखाया कि अहिंसा से वह स्वराज्य प्राप्त करे और उसने उसे प्राप्त किया वैसे ही वे संसार के राष्ट्रों को सिखाना चाहते थे कि वे अहिंसा द्वारा ही अपने दुश्मनों से रक्षा करें। ऐसा करने में उन्हें अपनी मानवीय कमजोरियों को और दूर करना पड़ता। वे ऐसा नहीं कर सके। पर उनका इस सिद्धान्त में विश्वास था और वे कहा करते थे कि अहिंसा का विज्ञान जो आज बचपन में है, विकसित हो जाने पर वैसा कर दिखलायेगा। अहिंसा में वह शक्ति है। हाँ, हम मनुष्यों में भले उसे प्राप्त करने की कम शक्ति हो।

यदि हम इस ओर दृष्टिपात करें तो भारत तथा एशिया के अन्य राष्ट्रों द्वारा मान्य पञ्चशील का सिद्धान्त अहिंसा का ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर

ागा। संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रचार-समितियाँ भी अहिंसा के ा के विपक्ष में लोकमत पैदा करके अन्तारराष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसा रण अहिंसा के युद्ध द्वारा करवा सकती हैं।

न्धी मानते थे कि अहिंसा का पूर्णतया पालन करना मनुष्य । "अहिंसा व्यापक वस्तु है। हिंसा की होली की लपेट में मर प्राणी हैं। 'जीवहि जीव अधार' गलत बात नहीं है। भी बाह्य हिंसा के बिना नहीं जी सकता। खाते-पीते, उठते- मे इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा वह करता ही हिंसा से निकलने का उसका महा प्रयास हो, उसकी भावना हो, वह छोटे से छोटे प्राणी का भी नाश न चाहे और बचाने की कोशिश करे, तो वह अहिंसा का पुजारी है। निरंतर संयम की वृद्धि होगी, उसमें निरन्तर करुणा बढ़ती देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

। अहिंसा में अद्वैत-भावना समाई हुई है और यदि प्राणिमात्र क के पाप का असर दूसरे के ऊपर होना लाजिमी है। इस य हिंसा से नितांत अछूता नहीं रह सकता। समाज में समाज की हिंसा मे बिना चाहे भी साझी बनता है[२५]।"

इयों के बावजूद भी अहिंसा का पालन करना, उसका को शिक्षा-दीक्षा देना, उसके लिए जनमत तैयार करना, र्म है।

ह गान्धी कहते हैं कि "मेरे अन्दर अभी क्रोध है, मुझमें अपनी वासनाओं को संगठित कर सकता हूँ, मैं उन पर । पर सार्वभौम, सार्वत्रिक अहिंसा की शिक्षा देने के लिए पूर्णतया मुक्त होना चाहिए[२६]।" अतः वे पूर्णतया अहिंसा ्यास करने में अपनी कमजोरी स्वीकार करते हैं। पर र्श का अप्राप्य होना उसका गुण ही है क्योंकि इससे इसके क्षेत्र खुला रहता है, अनन्त काल तक कार्य करने की आव- है, और सभी लोगों के मत की विभिन्नता को मानता है। कहना नहीं होगा कि यह अप्राप्यता प्रत्येक आदर्श का ्ष्य विशेषता है।

पुनश्च कभी-कभी हिंसा भी अहिंसा हो जाती है। गान्धी ने एक बार अपने आश्रम में एक रुग्ण बछड़े को मरवाकर इसका प्रतिपादन किया। पर यह अपवाद बड़ी बुद्धिमानी से सोचने योग्य है। गान्धी का मत है कि निम्न-लिखित चार शर्तें जब सब की सब पूरी हों तभी अहिंसा की दृष्टि से किसी की जान ली जा सकती है—

"(१) जिस बीमारी से रोगी बीमार है उसे असाध्य होना चाहिए।

(२) जिन-जिन लोगों का उस रोगी से सम्बन्ध है वे सभी उसके जीवन के प्रति निराश हो गये हों।

(३) वह मामिला सभी सहायता तथा सेवा के परे हो।

(४) रोगी के लिए यह असम्भव होना चाहिए कि वह अपनी इच्छा व्यक्त कर सके[२७]।"

इस परिस्थिति में किसी रोगी को मार देने से हिंसा नहीं होती है।

७ सत्य

सत्य के प्रसंग में गान्धी की शब्दावली अनेकार्थक है। वे सत्य से तीन अर्थ करते हैं—

१—सत्य का अर्थ सत् है। यह तत्त्ववैज्ञानिक अर्थ है।

२—सत्य का अर्थ सत्यता है। वह प्रमा है। यह ज्ञानमीमांसा का अर्थ है। इसका वर्णन हम ज्ञानमीमांसा के प्रसंग में कर चुके हैं।

३—सत्य का अर्थ सच बोलना है, सत् को व्यवहार में लाना है, सत्यता को आचरण में उतारना है। यह नैतिक अर्थ है।

हम यहाँ सत्य के नैतिक अर्थ का ही बयान करेंगे। चूँकि तत्त्ववैज्ञानिक और ज्ञानमीमांसा संबन्धी सत्, तथा सत्यता को प्राप्त करना ही सत्य है, इसलिए इसका अर्थ बहुत व्यापक है। वस्तुतः सत्य को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम सत् तथा सत्यता को न समझ लें। अभी हम यह जान लें कि गान्धी के अनुसार सत् एक ईश्वर ही है। शेष सब वस्तुएँ असत् हैं और सत्यता उसकी सच्ची अनुभूति या उपलब्धि है, तो हमें सत्य को समझने में सरलता होगी।

सत्य हमारे व्यवहार या आचार में रहता है। जब वह पूर्ण रूप से हो जाता है तो हम रह ही नहीं जाते, हमारा अस्तित्व ही नहीं रह जाता, तब

तो एक मात्र सत् ईश्वर ही रहता है। अतः हमारा अर्थात् जीवात्मा और ईश्वर का एकमेक होना पूर्ण सत्य को पाना है। पर चूँकि यह हमारे लिए आदर्श मात्र है, हम जब तक जीव हैं, जब तक हमारे शरीर है, तब तक हम इस आदर्श को नहीं पहुँच सकते हैं। अतः हमारे लिए सिर्फ इसकी ओर बढ़ना ही शेष रह जाता है। सत्याग्रह ही हमारे पल्ले पड़ा है।

सच्चा विचार करना, सच्ची बात बोलना तथा सच्चा काम करना—ये सत्य के त्रिविध रूप हैं। मुख्य बात है 'कथनी और करनी' को एक करना।

गान्धी का कहना है कि ''सत्य के पुजारी के लिए मौन का सेवन उचित है। जाने-अनजाने भी मनुष्य अतिशयोक्ति करता है अथवा जो कहने योग्य है, उसे छिपाता है या भिन्न रूप में कहता है। ऐसे संकटों से बचने के लिए भी अल्पभाषी होना आवश्यक है। थोड़ा बोलने वाला बिना विचारे न बोलेगा, अपने प्रत्येक शब्द को तौलेगा। अक्सर आदमी बोलने के लिए अधीर हो जाता है[३८]।''

एक बार स्कूल में वे इतनी देर से कसरत करने गए थे कि सब लोग वहाँ से चले जा चुके थे। दूसरे दिन पूछे जाने पर कि आप क्यों नहीं कसरत करने आये? उन्होंने बताया कि मैं आया था पर तब पहुँचा था जबकि सब लोग चले जा चुके थे। इस पर उन पर जुर्माना हुआ और झूठ बोलने का भी चार्ज लगाया गया। इस घटना से उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि ''सही बोलने और सही करने वाले को गाफिल भी नहीं रहना चाहिए[३९]।''

चूँकि पूर्ण सत्य को समझना कठिन है। इस कारण किसी को अपने विचार-आचार को ही पूर्ण नहीं समझना चाहिए। अपने विचार-आचार का औरों के विचार-आचार के साथ समन्वय करते रहना चाहिए। ''एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न संयोगों में भिन्न-भिन्न रूप से देखी जा सकती है। पर मेरे जीवन में आग्रह और अनाग्रह सदा साथ-साथ ही चलते आये हैं। सत्याग्रह में इसकी अनिवार्यता मैंने अनेक बार अनुभव की है। इस समझौता-वृत्ति के कारण मुझे कितनी ही बार अपनी जान की जोखिम उठानी पड़ी और मित्रों का असंतोष सहन करना पड़ा है। पर सत्य वज्र के समान कठिन है और कमल के समान कोमल[४०]।''

सत्य का पालन कैसे हो ? इस पर प्रकाश डालते हुए गान्धी ने कहा—
"गाय को बचाने के लिए झूठ बोला जा सकता या नहीं ? इस उलझन में
पड़कर अपनी नजर के नीचे जो रोज हो रहा है उसको भूल जायँ तो सत्य
की साधना न हो सकेगी, यों गहरे पानी मे बैठना सत्य को ढाकने का रास्ता
है। तत्काल जो समस्याएं रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही है उनमे
हम सत्य का पालन करें तो कठिन अवसरो पर क्या करना होगा इसका ज्ञान
हमें अपने आप हो जायगा।

"इस दृष्टि से हममें से हरेक को केवल अपने आपको देखना है। अपने
विचार से मैं किसी को ठगता हूँ ? अगर मैं 'ब' को खराब मानता हूँ और
उसको बताता हूँ कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूँ। बड़ा या भला कह-
लाने की इच्छा से जो गुण मुझमे नहीं है उन्हे दिखाने की कोशिश करता हूँ ?
बोलने में अतिशयोक्ति करता हूँ ? किये हुए दोष, जिसको बता देने चाहिए
उसे छिपाता हूँ ? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाब में
बात को उड़ा देता हूँ ? जो कहना चाहिए उसे छिपाता हूँ ? इनमें से कुछ
भी करते है तो हम असत्य का आचरण करते हैं, यों हरेक को रोज अपने
आपसे हिसाब लेकर अपने आप को सुधारना चाहिए[41]।"

ऐसा करने से सत्य गुण की प्राप्ति होगी। दार्शनिकों के लिये कदाचित्
सत्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है क्योंकि वे सत्य के ही अनुसंधान में अपने
जीवन को अर्पित करते हैं। उनके ऐसा करने से निःसन्देह सत्य की ओर
उनकी दृष्टि पैनी होगी।

८ अस्तेय

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। चोरी तीन प्रकार की होती है—
बाह्य या शारीरिक, मानसिक और वैचारिक या बौद्धिक। बाह्य चोरी दूसरे
की चीज को उसकी आज्ञा के बिना लेना इतना तो है ही। पर मनुष्य अपनी
मानी जाने वाली चीज की भी चोरी करता है जैसे, एक बाप अपने बच्चों
को जनाए बिना, उससे छिपाने की नियत रखकर चुप-चाप कोई चीज खा ले।
........लावारिस समझकर कोई चीज लेने में भी चोरी है। राह में पड़ी चीज
के मालिक हम नहीं, बल्कि उस प्रदेश का राजा या वहाँ की सरकार है।
........एक चीज की जरूरत न होते हुए जिसके अधिकार में वह है उससे

चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी, चोरी है। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए[४२]।"

शारीरिक चोरी से भी ज्यादा आत्मा को नीचे गिराने वाली चोरी मानसिक है। "मन से हमारा किसी की चीज पाने की इच्छा करना या उस पर झूठी नजर डालना चोरी है। सयाने या बच्चे का, किसी अच्छी चीज को देखकर ललचाना मानसिक चोरी है[४३]।"

"अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझता, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमें ही वह पहले सूझा, विचार की चोरी है। संसार के इतिहास में ऐसी चोरी अनेक विद्वानों ने भी की है और आज कर रहे हैं[४४]।"

अस्तेय व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताएँ कम करता जायगा। उसको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बड़ी सादगी से रहने की जरूरत पड़ती है।

"यज्ञ अर्थात् उपासना, बलिदान, सेवा या लोकोपकार न करके भोजन करने वाला व्यक्ति चोर है[४५]।" गीता के निम्नलिखित श्लोक को गान्धी बिल्कुल ठीक समझते थे और पालन करते थे—

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥[४६]

अर्थात्

मनुष्यमात्र की सेवा द्वारा संतुष्ट हुए देवता अर्थात् ईश्वर की सृष्टि तुम्हें इच्छित भोग देगी। उसका बदला दिये बिना, उसका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।

ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मन्त्र भी गान्धी को अत्यन्त प्रिय था। उसमें वे सम्पूर्ण हिन्दू धर्म का, सभी अन्य धर्मों का, अपने विचारों का सार पाते थे। वह यों है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥[४७]

अर्थात्

जगत् में जो कुछ जीवन है, वह ईश्वर से बसा हुआ है। इसलिए

उसके नाम से त्याग करके, तू यथाप्राप्त भोगता जा। किसी के धन के प्रति लालच न कर।

स्पष्ट है कि इसके विपरीत कर्म करने वाला व्यक्ति चोर है। अतः अस्तेन को ईश्वरार्पण करके ही भोजनादि भोग करना चाहिए और लोभ नही करना चाहिए।

६ ब्रह्मचर्य और अस्वाद

ब्रह्मचर्य का अर्थ जननेन्द्रिय-विकार का निरोध मात्र नही है किन्तु विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। फिर यह तो उसकी प्रतिषेधक व्याख्या हुई। उसकी विधायक व्याख्या यह है कि यह ब्रह्मचर्य है अर्थात् ब्रह्म की, सत्य की, शोध मे चर्या, अर्थात् तत्सबधी आचार है।[४८]

अस्वाद का अर्थ है स्वाद न लेना। स्वाद का अर्थ रस है। ब्रह्मचर्य के साथ अस्वाद का निकट सबन्ध है। "मेरे अनुभव के अनुसार इस (अस्वाद) व्रत का पालन करने मे समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय-सयम बिलकुल सहज हो जाता है। साधारणतया इसे व्रतो मे पृथक् स्थान नही दिया जाता। स्वाद को बडे-बडे मुनिवर भी नही जीत सके, इसलिए इस व्रत को पृथक् स्थान न मिला। पर यह केवल मेरा अनुमान मात्र है। ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रत को पृथक् स्थान दिया है[४९]।"

अस्वाद व्रत के पालन के लिए निम्नलिखित बातो की आवश्यकता है—

१ कभी भी किसी भी वस्तु को स्वाद लेने के लिए चखना व्रत का भग है।

२ मिताहारी बनना, सदा थोडी भूख बाकी रहते ही चौके पर से उठ जाना।

३ अधिक मिर्च-मसाले वाली और अधिक घी-तेल में तली-पकी साग-भाजियों मे परहेज करना। जब दूध काफी मिलता हो तो अलग से घी तेल खाने की जरूरत बिलकुल नहीं होती।

४ तन-मन से उपवास रखना।[५०]

५ अस्वाद-वृत्ति से बनने वाली शामिल रसोई बहुत सहायक है। वहाँ भोजन करने वाला अनायास अस्वाद व्रत का पालन करता है।

६. आदर्श स्थिति में खाद्यों का अग्नि से पकाने की आवश्यकता नहीं होती। सूर्यरूपी महाग्नि जिन चीजों को पकाती है उन्हीं में से हमारे खाद्य का चुनाव होना चाहिए। इन विचारों से सिद्ध होता है कि मनुष्य को केवल फलाहारी होना चाहिए।[५१]

७. विषय को शान्त करने के लिए उपवासादि आवश्यक हैं? "परन्तु उनकी जड़ अर्थात् उसमें रहने वाला रस तो ईश्वर की झाँकी होने पर ही निवृत्त होता है। ईश्वर-साक्षात्कार का रस जिसे लग जाता है वह दूसरे रसों को भूल ही जाता है[५२]"।

यह भाव गान्धी को गीता के निम्नांकित शब्दों से मिला था। यह उनका प्रिय श्लोक था।

> विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
> रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥[५३]

अर्थात्

देहधारी निराहारी रहता है तो उसके विषय मन्द पड़ जाते हैं, परन्तु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने से ही निवृत्त होता है।

अस्वाद व्रत ब्रह्मचर्य व्रत की पहली सीढ़ी है। रसनेन्द्रिय पर अधिकार प्राप्त कर लेने से ब्रह्मचर्य का पालन सरल हो जाता है।

दूसरी सीढ़ी जल्दी उठने और जल्दी सोने के नियम का पालन करना है।

तीसरी सीढ़ी सत्संगति है। अच्छी पुस्तकों का पढ़ना, गन्दे साहित्य से परहेज करना, अच्छे आचरण वाले लोगों से मिलना-जुलना और दुष्ट लोगों का संग छोड़ना ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक है।

चौथी और अन्तिम सीढ़ी रामनाम लेना है, ईश्वर की प्रार्थना करना है। जब तक ईश्वर में श्रद्धाभक्ति न हो तब तक ब्रह्मचर्य का पालन कठिन है। ईश्वर से साधक को बार-बार प्रार्थना करनी चाहिए कि वह उसे ब्रह्मचर्य में सफलता प्रदान करे। इस प्रार्थना का मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता है।

जिसकी कुल प्रवृत्तियाँ सत्य के दर्शन के लिए हैं, वह सन्तानोत्पत्ति के काम में या घरगिरस्थी चलाने के झगड़े में पड़ ही कैसे सकता है? भोग-

विलास द्वारा किसी को सत्य प्राप्त होने की आजतक हमारे सामने एक भी मिसाल नहीं हैं। सर्वव्यापी प्रेम करने वाले का पहले ही से सृष्टि-रूपी कुटुम्ब मौजूद है। उसे अपना कुटुम्ब क्या बनाना पड़ेगा? वह अपने को दो-चार प्राणियों के प्रेम तक ही क्यों सीमित रखेगा? वह अपने को स्त्री-प्रेम, पुत्र-प्रेम तक ही क्यों सीमित रखेगा? इस प्रकार विवाह का ब्रह्मचर्य से मेल नहीं बैठता। सच्चा ब्रह्मचर्य नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ही है। जो आजीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक मनसा वाचा कर्मणा ब्रह्मचारी रहे वही नैष्ठिक ब्रह्मचारी है।

अब प्रश्न उठता है कि फिर जो विवाह कर चुके हैं उनकी क्या गति होगी? इसका रास्ता गान्धी ने यों निकाला था—"विवाहित का अविवाहित की भाँति हो जाना[४७]।" विवाहित स्त्री-पुरुष अपने को भाई-बहिन समझें। ब्रह्मचर्य सच्ची मातृभावना है। सारे संसार को अपनी माँ समझना ब्रह्मचर्य है। दम्पति का सम्बन्ध यदि भाई-बहिन का-सा हो जाय तो निःसन्देह वे ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं।

फिर प्रश्न उठता है कि यदि समाज के समस्त नर-नारी ब्रह्मचारी हो जायेंगे तो समाज का पतन हो जायगा, सन्तानोत्पत्ति का कार्य रुक जायगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गान्धी ने बतलाया कि ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन है। सभी लोग इसका थोड़ा भी पालन नहीं कर सकते हैं। अन्य आदर्शों की भाँति ब्रह्मचर्य भी सदा दुष्प्राप्य है। अतः यदि लोग विवाह कर लें और केवल सन्तानोत्पत्ति के ही लिए, भोग के लिए नहीं—ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ मैथुन-क्रिया करें और आजीवन एकपत्नीव्रत या एक-पतिव्रत रखें तथा सन्तानोत्पत्ति भी जितनी उनकी आर्थिक स्थिति हो उसके अनुसार संतानों के पालन करने का विचार करके करें तो ऐसे दम्पत्ति भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। नीति-भ्रष्ट अविवाहितों से विवाहित अच्छे है। विवाहितों में भी एकपत्नीव्रत या एकपतिव्रत वाले दम्पति अच्छे हैं। उनमें भी केवल सन्तानोत्पत्ति के निमित्त ऋतुकाल में मैथुन करने वाले दम्पत्ति अच्छे हैं और इन दम्पत्तियों में भी संतति-पालन की अपनी क्षमता के अनुसार इस प्रकार सन्तानोत्पत्ति करने वाले दम्पत्ति अच्छे हैं। उनमें भी वे दम्पत्ति अच्छे हैं जो विवाहित होकर भी पूर्ण अविवाहित रहते हैं।

वे इसको नीति का नाश समझते थे। लोगों को अपने मन पर नियन्त्रण रखकर स्वेच्छा से सन्तति-निग्रह करना चाहिए।

१० अपरिग्रह या असंग्रह

"अपरिग्रह को अस्तेय से संबंधित समझना चाहिए। वास्तव में चुराया हुआ न होने पर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का-सा माल हो जाता है। परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना[55]।"

अपरिग्रह का बड़ा गहरा अर्थ है। "आदर्श, आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसी का कहा जायगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है।" यहाँ तक कि वह पक्षी की भाँति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करता है।.................केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिए तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया है और उसे कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नहीं रह जाती[56]।"

अतः स्पष्ट है कि जब तक देह है तब तक आदर्श या आत्यन्तिक अपरिग्रह नहीं हो सकता। फिर भी इसका मतलब यह नहीं कि हमें अपरिग्रह का पालन नहीं करना चाहिए। अपरिग्रह का पालन न करने से लोगों की इच्छाएं दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती हैं, समाज में गरीबी फैलती है और आर्थिक विषमता उत्पन्न होती है। इन सब को दूर करने के लिए हमें उतनी ही वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए जितनी कि हमारे उपयोग के लिए आवश्यक हैं। हमें अपनी इच्छाओं को भी घटाते रहना चाहिए। इच्छाओं के बढ़ाने से सुख नहीं मिल सकता।

वस्तुओं की भांति विचार का भी अपरिग्रह होना चाहिए। "अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान भर लेने वाला मनुष्य परिग्रही है[57]।" जो विचार हमें सत्य और अहिंसा से विमुख करते हैं, वे परिग्रह के अन्दर आते है।

अपरिग्रह को कार्य-रूप में लाने के लिए गान्धी ने दो सिद्धान्तों का निर्माण किया—इच्छापूर्वक दैन्यपूर्ण जीवन बिताना और ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त।

अपरिग्रही को इच्छापूर्वक दीन बनना चाहिए। उसे सादगी से रहना चाहिए। अपनी इच्छाओं को, अपनी उपयोग-सामग्री को घटाते रहना

चाहिए। इस सिद्धान्त को लेकर बहुत-से लोगो ने, विशेषत. साम्यवादियो ने एम० एन० राय ने, कहा कि गान्धी का दर्शन निर्धनता का दर्शन है। वह गरीबी और सादगी सिखाता है। पर यह आलोचना गान्धी दर्शन को ठीक न समझने के कारण है। गान्धी-दर्शन सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्व भर की गरीबी नही सिखाता। वह व्यक्ति को भी भोगेच्छा की ही न्यूनता सिखाता है। अपरिग्रह का सिद्धान्त केवल इसलिए है कि समाज के सभी लोग समान रूप से समृद्ध, धनी या सुखी रहे। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए, शरीर, बुद्धि और आत्मा के विकास के लिए जिन-जिन वस्तुओ की आवश्यकता पडती है उनका वह यथोचित मात्रा मे उपयोग कर सकता है, ऐसा गान्धी कहते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा है कि "उन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन मे गरीबी को बहुत ऊँचा उठाया पर भारत मे किसी दूसरे व्यक्ति ने अपने राष्ट्र की, समाज की भौतिक समृद्धि को बढाने के लिए उनसे अधिक प्रयत्न नहीं किया[४८]।"

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के अनुसार, गान्धी का कहना था कि धनी लोग अपने धन का जितना उनके लिए आवश्यक हो, उतना उपभोग करे और शेष धन को अपने अन्दर रखा हुआ समाज का न्यास समझें। वे उस धन के ट्रस्टी या न्यासी (संरक्षक) हैं, उसके स्वामी नही। उन्हे उस धन को लोकोपकार में, राष्ट्रनिर्माण मे, सामाजिक कार्यों मे व्यय करना चाहिए। अपनी इच्छा से उस धन को उन्हे इस प्रकार सार्वजनिक कार्यों मे खर्च करना चाहिए। पूंजी-पतियो से गान्धी की यही दरख्वास्त थी। इसी सिद्धान्त द्वारा वे भारत की आर्थिक विषमता को दूर करना चाहते थे।

इस सिद्धान्त की भी बडी खिल्ली उडाई गयी। लोगों ने सोचा कि यह असभव बात है। पर इसी सिद्धान्त से निकले भूदान, सम्पत्तिदान आदि आन्दोलनो मे जनता तथा पूँजीपतियो ने जिस उत्साह और उदारता से काम किया है, यदि उसकी दिनानुदिन प्रगति होती रही, तो यह सत्य सिद्ध हो जायगा कि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त मूलतः सही है। गान्धी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके सिद्धान्तों की सफलता भविष्य सिद्ध करेगा।

किस व्यक्ति के लिए कितनी वस्तुओं की आवश्यकता है? वह कितना उपभोग करे और कितना न करे? इन प्रश्नो का उत्तर प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय मे ढूढना चाहिए। वही बतला सकता है कि उसकी कितनी

आवश्यकताएँ व्यर्थ की हैं; दूसरा नहीं बतला सकता। हाँ, उस व्यक्ति को ऐसा जानने के लिए कुछ संयम की आवश्यकता होगी। उसे प्रश्न करना पड़ेगा कि क्या मैं जैसा खा रहा हूँ, पहन रहा हूँ, वैसा मेरा पड़ोसी या देशवासी भी कर रहा है? क्या मेरे-जैसा उसका भी मकान है? इन प्रश्नों पर विचार करने से उसे अपरिग्रह-नियम ज्ञात हो जायगा और वह अपनी इच्छाओं को घटाना शुरू कर देगा। धीरे-धीरे उसे सफलता मिलती जायगी और तब वह सर्वसाधारण-सा जीवन बिता सकने में समर्थ हो सकेगा।

११ शरीरश्रम या कायिक श्रम

कायिक श्रम का भी संबन्ध अस्तेय से है। जो व्यक्ति बिना यज्ञ किए, यज्ञ का यहाँ अर्थ गान्धी के अनुसार कायिक श्रम है, खाता है, वह चोर है। यदि कोई कार्य नहीं करता तो उसे जीने का हक नहीं है। जीने का अर्थ है काम करना। यदि शरीर काम नहीं करता तो उसे जीने का हक नहीं है। यदि शरीर से श्रमपूर्वक उपार्जन नहीं किया जाता, तो उस शरीर को खिलाने का भी अधिकार किसी को नहीं है। अतः चाहे लोग बुद्धिजीवी हों या आत्मजीवी हों, उन्हें शरीरजीवी अवश्य बनना है, उन्हें अपनी बुद्धि और आत्मा से ही अपने शरीर की खूराक नहीं पैदा करनी है। वे अपनी बुद्धि तथा आत्मा की खूराक पैदा करें, शरीर की खूराक से अधिक वे बुद्धि तथा आत्मा की खूराक पैदा करें, पर जब तक उनके शरीर है, उन्हें शरीर की भी खूराक पैदा करनी चाहिए। अन्यथा उनको अपने शरीर को खिलाने का हक नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को कुछ-न-कुछ शारीरिक श्रम करना चाहिए। गान्धी ने चर्खा कातना सबको आवश्यक बताया है। किन्तु यदि लोग चर्खा कातने के स्थान पर कोई दूसरा शारीरिक काम करना चाहते हैं तो कर सकते हैं। चर्खा तो कायिक श्रम का प्रतीक मात्र है।

कायिक श्रम सबके लिए अनिवार्य हो जाने से आत्मजीवी, बुद्धिजीवी और शरीरजीवी का अन्तर नहीं रह जाता। इससे समता आती है, छुआ-छूत दूर होती है और विश्वबन्धुत्व बढ़ता है।

१२ अभय

अभय का अर्थ है बाहरी भय मात्र से मुक्ति। बाहरी भय क्या है? "मौत का भय, धन-दौलत लुट जाने का भय, कुटुम्ब-परिवार-विषयक भय,

रोग-भय, शस्त्र-प्रहार का भय, प्रतिष्ठा का भय, किसी के बुरा मानने का भय। भय की यह पीढ़ी चाहे जितनी लम्बी बढ़ाई जा सकती है[४६]।" इन सभी भयों को जीतने से ही अभय की प्राप्ति होती है।

परन्तु भीतरी भयों से मुक्ति नहीं पानी है। "भीतर जो शत्रु मौजूद है उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयों का उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देह के कारण है। देह-विषयक राग दूर हो जाने से अभय सहज में प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पना की उपज है[५०]।"

यहाँ पर कुछ लोगों को विरोध दीख पड़ेगा। एक ओर भीतरी भयों अर्थात् काम-क्रोधादि के भयों से मुक्ति न पाने की बात है और दूसरी ओर काम-क्रोधादि को जीतने की बात है। क्या इन बातों में विरोध नहीं है? काम-क्रोधादि को हमें जीतना है पर उनके भय को बनाये रखना है। हम जितना अधिक काम-क्रोधादि से डरेंगे उतना ही अधिक हम उन्हें जीत सकेंगे और अभय प्राप्त कर सकेंगे। वस्तुतः काम-क्रोधादि से डरना भय नहीं है, किन्तु अभय की निशानी है। अतः दोनों में विरोध नहीं है।

अभय का अर्थ है साहस। जिसे आत्मबल है वही साहसी या शूर है। तलवार लटकाने से कोई बहादुर नहीं हो जाता। तलवार तो भीरुता की निशानी है। सच्ची वीरता भीतरी होती है, बाहरी नहीं।

अभय की आदर्श-अवस्था देहधारियों के लिए अप्राप्य है। "भयमात्र से तो मुक्ति वही पा सकता है जिसे आत्मसाक्षात्कार हो गया हो। अभय मोह-रहित स्थिति की पराकाष्ठा है[५१]।" पर निश्चय करने से, सतत प्रयत्न करने से और आत्मा पर श्रद्धा बढ़ाने से अभय की मात्रा बढ़ सकती है।

अहिंसा को लोग प्रायः कायरों का अस्त्र समझ लिया करते हैं। इस प्रसंग में उन्हें अभय को स्मरण रखना चाहिए क्योंकि यह आत्मबली या सत्याग्रही का अनिवार्य गुण है।

१३ सर्वधर्मसमभाव

सब धर्मों के प्रति सहिष्णु होना और अपने धर्म का पालन करना—यह गान्धी की महान् से महान् शिक्षा रही है। उनके अनुसार सभी धर्म

ईश्वर-दत्त हैं। पर मनुष्य कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं[६२]।

सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु होने का मतलब है सभी धर्मों को समान रूप से समझना, न किसी को बड़ा समझना और न किसी को छोटा। किसी धर्म की निन्दा नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक धर्म अच्छा है पर उसके अनुयायी बुरे हो सकते हैं। अनुयायियों के जीवन को देखकर किसी धर्म के बारे में अपनी कोई राय नहीं कायम करनी चाहिए। प्रत्येक धर्म के मान्य धर्म-ग्रन्थों का निष्पक्ष अध्ययन करना चाहिए। उनमें भी ग्राह्य और त्याज्य अंश रहते हैं। ऐसा समझ कर केवल ग्राह्य अंश ही लेना चाहिए और त्याज्य अंश की चर्चा ही छोड़ देनी चाहिए। दूसरे धर्मों के ग्राह्य अंश को अपने धर्म में लेते हुए संकोच न होना चाहिए[६३]। गान्धी ने सर्वधर्मसमभाव का पालन करने के लिए निम्नलिखित सारगर्भित दृष्टिकोणों की खोज की है—

१—प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का ही पालन करना चाहिए। भूलकर भी उसे दूसरे धर्म को नहीं स्वीकार करना चाहिए। अगर उसको अपने धर्म पर शंका हो तो उसे सर्वप्रथम अपने धर्म का शास्त्रीय अध्ययन करना चाहिए। धर्म अनुयायियों से ऊपर रहता है। अनुयायियों के बुरे जीवन से धर्म को बुरा नहीं कहा जा सकता है।

२—"धर्म-पलटा (धर्म-परिवर्तन) मेरे शब्द-कोश में नहीं है[६४]"। धर्म-परिवर्तन करना अधार्मिक है। किसी को अपने धर्म को दूसरों पर लादना नहीं चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को कहना चाहिए कि वह अपने धर्म का पालन करे। हिन्दू अच्छा हिन्दू बने, ईसाई अच्छा ईसाई बने, यहूदी अच्छा यहूदी बने, मुसलमान अच्छा मुसलमान बने......इत्यादि। इस चीज को समझ लेने से धार्मिक द्वेषों और युद्धों का अन्त हो जायगा।

३—सभी धर्म में अच्छाई और बुराई दोनों है। बुराई इसलिए उनमें घुस गयी है कि वे मनुष्य द्वारा आचार में लाये गये है और मनुष्य गलतियों की गठरी है ही, यह निर्विवाद तथ्य है। प्रत्येक धार्मिक भाई को यह मान लेना चाहिए कि उसका धर्म अपूर्ण है। उसमें खराबियाँ है। इस कारण उसे भूलकर भी दूसरों पर अपना धर्म लादने का प्रयास नहीं करना चाहिए और न अपने धर्म के प्रति दूसरों धर्मों से अधिक आदर ही करना चाहिए। ऐसा न करने वाला धर्मान्ध है।

४—सभी धर्मों में धर्मता एक है। वह मानवता का धर्म है। विशिष्ट-
विशिष्ट धर्म भिन्न-भिन्न माध्यमों द्वारा उसी मानव धर्म को व्यक्त करते हैं।
मानवजन्य उनकी बुराइयों को दूर करते हुए उनके सार्वभौम तत्त्व को अप-
नाना चाहिए। यदि विशिष्ट-विशिष्ट धर्मों के मूल तत्त्व एक ही भाषा में
मूलत. अभिव्यक्त किये जाते तो वे विशिष्ट न होकर सामान्य ही रहते, तब
एक ही धर्म रहता। आज भी यदि विशिष्ट धर्मों की मूल शिक्षाओं का एक
भाषा में अनुवाद करके देखा जाय तो सभी विशिष्ट धर्म एक ही प्रतीत
होंगे। ऐसा न जानने वाले धर्म को नहीं समझते। इस सिद्धान्त को व्यवहार
में लाने के लिए धार्मिकों को चाहिए कि वे सभी विशिष्ट धर्मों की प्रार्थ-
नाएं किया करें। सभी प्रार्थनाएं चरित्र को ऊँचा उठाती हैं।

५—कोई धर्म हिंसा नहीं सिखाता। 'मजहब नहीं सिखाता आपस में
बैर रखना', इकबाल की यह पंक्ति गान्धी को बहुत पसन्द थी। विश्व का
धर्म, मानवता का धर्म, अहिंसा का धर्म है।

६—सभी धर्मों में एक ईश्वर की ही प्रार्थना होती है। राम-कृष्ण,
रहीम-करीम, यीशु-मरियम, अहुरा मज्दा, मूसा, सभी ईश्वर के नाम हैं।
ईश्वर के विभिन्न नाम उसके गुण बताते हैं।

७—विचार में विरोध हो सकता है पर आचार में विरोध न होना
चाहिए। सभी धर्म के पालन करने वालों का आचार एक प्रकार का होना
चाहिए अर्थात् उनके जीवन में सत्य तथा अहिंसा की छाप होनी चाहिए।

८—धर्म की शिक्षा बुद्धि या तलवार से नहीं दी जा सकती। उसे हम
आचार द्वारा ही औरों को सिखा सकते है। अतः जो चाहता है कि उसका
धर्म ग्राह्य हो, उसका धर्म सर्वश्रेष्ठ समझा जाय, उसे अपने धर्म को अपने
आचरण में उतारना चाहिए, न कि वचन से कुछ कहना चाहिए।

९—सभी धर्मों में किसी-न-किसी रूप में मूर्ति-पूजा मान्य है। शब्दों
द्वारा ईश्वर की स्तुति करना, देवालयों में ही ईश्वर का वास मानना, धर्म
ग्रन्थों में ईश्वरीयता मानना आदि उतनी ही बड़ी मूर्ति-पूजा है जितनी कि
पत्थर और लकड़ी में ईश्वर को मानना। मूर्तिपूजा मानव मात्र के स्वभाव
में है। यह स्वयमेव बुरी नहीं है। पर यह उपासना का आरंभ-बिन्दु ही है।
इसका अतिक्रमण आवश्यक है। सभी धर्म मूर्तिपूजा से शुरू करके विराटपूजा
और फिर मौनपूजा तक का विधान करते हैं। मूर्तिपूजा तक ही सीमित रहना
साधक की कमजोरी है।

१०—जो व्यक्ति किसी एक विशिष्ट धर्म को मानता है वह वस्तुतः अन्य विशिष्ट धर्म को भी मानता है। गान्धी इसीलिए कहते थे कि चूंकि मैं सच्चा हिन्दू हूं इसीलिए मैं सच्चा ईसाई भी हूं, सच्चा पारसी भी हूं, सच्चा मुसलमान भी हूं, सच्चा यहूदी भी हूं........इत्यादि। जो सच्चा मुसलमान है वह सच्चा हिन्दू है, सच्चा यहूदी है, सच्चा ईसाई है........इत्यादि। इसी प्रकार जो सच्चा ईसाई है वह सच्चा हिन्दू है, सच्चा मुसलमान है, सच्चा यहूदी है........इत्यादि। इस तत्त्व को न समझकर किसी ने कहा कि गान्धी प्रच्छन्न ईसाई है, दूसरों ने कहा कि वे मुस्लिम-परस्त हैं और तीसरों ने कहा कि वे महाधूर्त कूटनीतिज्ञ हैं। वास्तविकता यह है कि वे सच्चे हिन्दू हैं और सर्व धर्म समभाव को मानने के कारण सच्चे ईसाई, मुसलमान, आदि भी हैं।

प्रत्येक धर्म का दार्शनिक अथवा रहस्यवादी ज्ञान बताता है कि गान्धी ठीक थे और उनके छिद्रान्वेषक सत्य से काफी दूर थे।

१४ स्वदेशी

स्वदेशी एक दार्शनिक मत है और एक नैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्रत है। हम पहले इसके नैतिक-धार्मिक पक्ष पर विचार करेंगे। गान्धी ने इसे वर्तमान युग का महाव्रत कहा है।

स्वदेशी की धार्मिक व्याख्या को हम सर्वधर्म समभाव में देख चुके हैं। उसकी नैतिक व्याख्याएं दी हैं। "स्वदेशी आत्मा का धर्म है, पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की जरूरत रहती है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अन्तिम अर्थ सारे स्थूल संबन्धों से आत्यन्तिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है। क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होता है, उसके मार्ग में विघ्नरूप है। जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जानने और पालने वाला देह का भी त्याग करता है।

"यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकते हैं कि अपने पास रहने वालों की सेवा में ओत-प्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना संभव है कि दूर वाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है, पर यह केवल आभास ही होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे ८६।"

दूर की सेवा करने का मोह करने मे वह हो नही पाती और पड़ोस सेवा छूट जाती है। यो इधर-उधर दोनो बिगड़ते हैं। दूर वालों की करने जाने मे उनकी सेवा करने का जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। का वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड़ कर चला ही था। यों स्व का पालन न करके परदेशी के पालन करने मे हर तरह से नुकसान है। स्वदेशी की पूर्ण सेवा हो गयी है तो कुछ परदेशी की भी उसी मे सेव गयी है। क्योंकि अन्य लोग अपनी स्वदेशी करने की प्रेरणा लेंगे। यदि इ अतिरिक्त परदेशी की सेवा करनी आवश्यक हो तो पूर्ण स्वदेशी करके की जा सकती है। पर स्वदेशी की पूर्णता संभव न होने पर यह संभव है। यह स्वदेशी स्वधर्म का अर्थात् स्वकर्म का पालन है। "स्वधर्म के पा से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि नहीं पहुंच ही नहीं सकती पहुंचनी चाहिए। पहुंचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं है, बल्कि स्वाभि है, अतः वह त्याज्य है[६६]।"

"स्वदेशी मे स्वार्थ नहीं है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्व यानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थ की पराकाष्ठा[६७]।" यह स्वदे का दार्शनिक अर्थ है। स्वयंता निरपेक्ष आत्मनिष्ठा है। स्वदेशी को पूर्ण से प्राप्त करना स्व और पर के भेद को प्राप्त करते हुए उस वस्तु को प है जो आभासित स्व और पर का आधार है। वही सच्चा स्वार्थ, स्वस या आत्मनिष्ठा है।

स्वदेशी के सामाजिक पहलू पर जोर देते हुए गान्धी ने देशभर में ख को अपनाने का प्रचार किया। चर्खे से सूत कातना और उस सूत से कप बुनना खादी का काम है। ऐसे बुने हुए अपने देश के कपड़े को ही पहन स्वदेशी का व्रत है। पर जो लोग खादी पहन-पहन कर स्वदेशी धर्म पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोह में डूबे हैं। "खादी सामाजि स्वदेशी की पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खा धारी देखे गए हैं जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं। वे स्वदेशी पालन नहीं करते। वे तो प्रवाह में बहने वाले हैं। स्वदेशी व्रत का पाल करने वाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहां-जहां पड़ो की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहां-जहां उनके हाथ का तैयार कि

हुआ माल होगा वहाँ-वहाँ वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले मँहगी और कम दर्जे की ही क्यों न हो[६८]।"

स्वदेशी की नैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा दार्शनिक व्याख्या करके गान्धी ने इसे राजनैतिक अस्त्र भी बताया। उन्होंने देशभर में आन्दोलन किया कि विदेशी कपड़ो को जला देना चाहिए। विदेशी माल का बहिष्कार करना चाहिए। देशवासियों ने गान्धी के इस संदेश का पालन किया और देश के कोने-कोने में विदेशी कपड़ो की होली खेली गयी। अंग्रेज तथा अन्य यूरोपवासी इस होली को देखकर दंग रह गये।

इस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा दीनबन्धु एण्ड्रूज ने गान्धी पर सन्देह किया। उन्होने देखा कि स्वदेशी अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध है। इससे अपने देश का अन्य देशों के साथ संबध नहीं निभता। यही सन्देह गान्धी के अमर जीवनचरितकार रोमैं रोलां ने किया है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि गान्धी के मन मे स्वदेशी की स्वस्थ धारणा थी पर उनके शिष्यों और अनुयायियों के हाथ में पड़कर यह बिगड़ गयी। काका कालेलकर की पुस्तक-गास्पेल आफ स्वदेशी (स्वदेशी की गीता) की उन्होंने कटु आलोचना की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि "माल और विचार दोनो का बहिष्कार करना पापपूर्ण है[६९]।"

किन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबन्धु एण्ड्रूज तथा रोमैं रोलां की धारणाएं निर्मूल हैं। गान्धी तथा कालेलकर ने स्वदेशी की जो व्याख्या की है वह कदापि ऐसी नहीं कही जा सकती है जिससे कि परदेशी की हानि हो। जो विचार और माल स्वदेश में हो उसको परदेश से लाना खराब है और जो विचार और माल स्वदेश में नहीं है उसे परदेश से लाना अच्छा है। इसी प्रकार जो माल और विचार परदेश में नहीं है और हमारे यहाँ है, उसका हमें निर्यात करना चाहिए। फिर परदेशी विचार और माल को लेते समय हमे स्वदेशी विचार और माल की उपेक्षा न करनी चाहिए और न उस माल तथा विचार के स्वदेशीकरण को ही भुला देना चाहिए। गान्धी ने तो बार-बार कहा और उनके अनुयायियों ने उसका पालन भी किया कि 'स्वदेशी धर्म का पालन करने वाला परदेशी का कभी द्वेष नहीं करेगा[७०]।"

उक्त सन्देह का कारण यह है कि लोगों ने सोचा कि जो अमूल्य और

असंख्य कपड़ जला दिए गए, यदि वे ही वस्त्रहीनों को दे दिए जाते तो अच्छा था। पर उनका दान स्वदेशी के विपरीत था। जब शराबखोरी बन्द होती है तो शराब बेंचने वाले को बुरा लगता है क्योंकि उसकी आमदनी जाती रहती है। शराबखोरी अगर कोई आदमी बन्द करता है तो उसे अपनी शराब को नष्ट कर देना ही ठीक है, न कि किसी को देकर शराबी बनाना। उसका स्वधर्म या स्वभाव शराब पीना-पिलाना नहीं है। यही बात विदेशी कपड़ों के बारे में भी जानना चाहिए। विदेशियों को इन कपड़ो से आमदनी थी। अपने देश को इनसे कई तरह की हानि थी। अपने देश का कपड़ा इनके सामने चल नहीं पाता था, बिक नहीं पाता था। ये कपड़े बड़े मँहगे थे। इनसे विदेश के लोग धनी हो जाते थे और देश के लोग निर्धन। इनको जला देने से यह सिद्ध करना था कि देश अब जग उठा है उसने अपने गन्दे स्वभाव को छोड़ दिया है. वह अब विदेशी बाना नहीं पहनेगा, वह स्वदेशी कपड़ा पहनेगा, वह यथासंभव प्रत्येक स्वदेशी वस्तु का प्रयोग करेगा। इस तरह से विदेशियों को पाठ पढ़ाया गया कि वे हमें अपना शिकार न बनायें। शायद राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन में पर्याप्त जान न आती यदि स्वदेशी का आन्दोलन न किया गया होता। आन्दोलन हुआ। सफलता मिली। देश आजाद हुआ। हमारे माल तथा विचार की अन्य देशों में कदर हुई। इन सब परिणामों से सिद्ध है कि हमारा स्वदेशी व्रत ठीक था। अतः कतिपय महापुरुषों की शंकाएं निर्मूल थीं। स्वयं गान्धी तथा उनके अनुयायियों ने पश्चिम के देशों से काफी शिक्षा ली थी। उनके विचारों को पचाया था। पर उन्होंने पचा कर उन विदेशी विचारों का स्वदेशीकरण कर दिया था। यही कारण है कि आज भारत पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का समन्वय करने वाला समझा जाता है। दार्शनिक-प्रवर रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे ने स्पष्ट कहा है कि "यदि पश्चिम और पूर्व मिलने वाले हैं तो वे भारत मे मिलेंगे, यूरोप में नहीं[१]।" इस कथन में आज बहुत-कुछ सत्यता सभी को प्रतीत होती है।

१५. अस्पृश्यता-निवारण

अस्पृश्यता का रोग संसार भर में [illegible] है। कुछ लोग अपने ही देश-वासियों को अस्पृश्य मानते हैं। हिन्दूधर्म में तो अस्पृश्यता धर्म का अंग

समझ ली गयी है । गान्धी इसके विपरीत थे । वे अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का अंग नहीं मानते थे । वह "उसमे घुनी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, परम कर्तव्य है[७२] ।"

भंगी, चमार आदि को अछूत कहना, उनसे कोई संबन्ध न रखना और उनसे प्रेम न करना मानवता के प्रति अन्याय है । कर्म से कोई छूत और कोई अछूत नही हो जाता । कर्म से कोई ऊँच और कोई नीच नही हो जाता है । अस्पृश्यता ऊँच-नीच की भावना से उत्पन्न हुई है, वर्णाश्रम धर्म से नहीं । यह भावना अनुचित है, वर्णाश्रम धर्म अनुचित नही है । इस भावना को नष्ट कर देने से अस्पृश्यता का निवारण हो जायगा और वर्णाश्रम धर्म भी बना रहेगा । कुछ लोगों का मत है, विशेषत डा० भीमराव अम्बेडकर का, कि अस्पृश्यता का निवारण तभी हो सकता है जब कि वर्णाश्रम धर्म को नष्ट कर दिया जाय । पर गान्धी इसके विपरीत थे । उन्होंने प्रमाण पेश किया कि वेदोपनिषत्काल मे वर्णाश्रम धर्म था पर अस्पृश्यता नही थी । बाद को जब ऊँच-नीच की भावना लोगों के हृदय में बैठ गयी तो उसी संस्था से, वर्णाश्रम धर्म से नहीं, अस्पृश्यता उत्पन्न हो गयी । वर्णाश्रमधर्म की संस्था में दोष नही है । अतः उसे सुरक्षित रखना चाहिए । वह संस्था धार्मिक न होकर अधिकतर सामाजिक है । उसके बिना समाज चल नहीं सकता ।

कुछ लोग कहते हैं कि अछूतों का उद्धार तब किया जाय जब कि वे गन्दी आदतों को, गन्दे रिवाजों को, दूर कर दे । किन्तु गान्धी ने बिना किसी शर्त के छुआछूत को नष्ट करने का व्रत लिया । यह दूसरी बात है कि छुआछूत को बिना किसी शर्त के नष्ट करते हुए भी अछूतों के गन्दे रिवाजों और बुरी आदतों को सुधारा जाय, उन्हें शिक्षित किया जाय और स्वच्छ रहने की आदत पैदा की जाय ।

अस्पृश्यों को गान्धी 'हरिजन' अर्थात् ईश्वर के भक्त कहते थे । यों तो सभी प्राणी हरिजन है पर दीन-दुःखी ईश्वर के विशेष कृपापात्र है । अतः हरिजन शब्द अछूतों के लिए उपयुक्त कहा जा सकता है ।

अस्पृश्यता-निवारण के लिए गान्धी ने निम्नलिखित नियमों के पालन पर ज़ोर दिया—

(१) हरिजनों के साथ खान-पान तथा शादी-विवाह किया जाय ।

(२) हरिजनो को सभी मन्दिरों तथा ऐसे ही अन्य स्थानों में, जहाँ उनका

गमन निषिद्ध है, जाने दिया जाय। एतदर्थ कानून बनाने की भी आवश्यकता है क्योंकि कहीं-कहीं कानून द्वारा हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश निषिद्ध है। इन कानूनों को रद्द करते हुए नये कानूनों का बनाना जरूरी है।

(३) हरिजनों के साथ प्रेमपूर्वक मिलना चाहिए। उनको अपनी ही जाति का सदस्य समझ कर उनके साथ व्यवहार करना चाहिए।

अपने अस्पृश्यता-निवारण सम्बन्धी कार्यों के कारण गान्धी कुछ लोगों के द्वारा सनातनी हिन्दू नहीं माने जाते। वे गान्धी को वर्ण-संकर कर्ता मानते हैं। पर गान्धी खुद अपने को कट्टर सनातनी हिन्दू मानते हैं। प्रत्येक महापुरुष या महान् दार्शनिक को लोग समझने में भूल करते हैं, यह इतिहाससिद्ध बात है। वैसे ही गान्धी को भी कुछ लोगों ने गलत समझा। वे अहिन्दू नहीं थे। वे सनातनी हिन्दू कहे जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने वेदोपनिषत्प्रभूत ब्राह्मणधर्म का पालन किया है। अस्पृश्यता-निवारण वर्तमान युग के हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसके विपरीत गौतम बुद्ध से लेकर आजतक देश के कितने महापुरुषों ने आवाज उठायी। पर उससे यह जा न सकी क्योंकि उन्होंने इसके मूल का उच्छेद करने का वातावरण ठीक तरह से नहीं बनाया था। गान्धी ने अहिंसा के तरीके से जो वातावरण बनाया है और आज के युग में समता तथा विश्वबन्धुता का जो संदेश है, उसके कारण अस्पृश्यता कहीं कायम नहीं रह सकती। जिस दिन हिन्दू धर्म से यह निकल जायगी और वह स्वच्छ तथा निष्कलंक हो जायगा, उस दिन गान्धी को लोग अपने धर्म का महाप्रवर्तक मान लेंगे।

१६ अहिंसा और व्रतमीमांसा

हमने ग्यारहों व्रतों की व्याख्या देख ली है। गान्धी उन सबको अहिंसा का ही विकास मानते थे। अतः हमें इस सिद्धान्त को समझना है।

(१) सत्य अहिंसामय है और अहिंसा सत्यमय है। "दोनों वस्तुएँ एक [illegible] है तथापि मेरा मन [illegible] की ओर झुकता है। अन्तिम स्थिति [illegible] विध्यात्मक है, अहिंसा निषेधात्मक है। [illegible] होने पर भी उसका निषेध करती है। [illegible] है। [illegible] अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिंसा [illegible] होना चाहिए। [illegible] है। अहिंसा [illegible]

संपूर्ण फल है । सत्य मे वह छिपी हुई है; किन्तु वह सत्य की तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किए बिना मनुष्य भले ही शास्त्र का शोध करे, उसका सत्य आखिर उसे अहिंसा ही सिखावेगा[७४] ।"

सत्य और अहिंसा के इस सम्बन्ध को हम कह सकते हैं कि अहिंसा सत्य का अवश्यंभवितव्य या अवश्यंभावी लक्षण है । इसीलिए गान्धी ने कहा कि "अहिंसा और सत्य ऐसे ओत-प्रोत हैं जैसे सिक्के के दोनों रुख, या चिकनी चकती के दो पहलू । उसमें किसे उल्टा कहे किसे सीधा ? फिर भी अहिंसा को साधन तथा सत्य को साध्य मानना चाहिए[७५]", क्योंकि अहिंसा-रूपी साधन अपने हाथ की बात है और वह सत्य का बोधक है । लक्षण ही लक्ष्य का बोधक होता है ।

इस प्रकार सत्य और अहिंसा मे लक्ष्य तथा लक्षण का भेद हुआ अर्थात् कोई वास्तविक भेद नही हुआ । दोनों एक हैं ।

(२) ब्रह्मचर्य और अस्वाद को हम एक साथ ले रहे हैं । अहिंसा का अर्थ है सर्वव्यापी प्रेम । विवाह से लोग जितना प्रेम अपने कुटुम्ब-परिवार के लिए करते हैं उतना अन्य के लिए नही । विषयभोग से, रसभोग से, लोग अपनी शक्ति की, बुद्धि की, हिंसा करते हैं और दूसरों को भी चोट पहुचाते हैं । वासनामय प्रेम अभिशाप है । सच्चा प्रेम वासना-शून्य होता है । अतः प्रेम-रूपी अहिंसा का पालन तभी हो सकता है जब कि वासनाओ पर अपनी प्रभुता हो अर्थात् ब्रह्मचर्य तथा अस्वाद का पालन हो, इन्द्रियनिग्रह हो । इस कारण ब्रह्मचर्य तथा अस्वाद अहिंसा के ही सहकारी हैं । जब तक अहिंसा का बोध न हो, सत्य के सच्चे प्रेम की चिकीर्षा न हो, तब तक ब्रह्मचर्य तथा अस्वाद का पालन नहीं हो सकता । अतः अहिंसा ब्रह्मचर्य तथा अस्वाद का मूल तथा फल दोनों है ।

(३) अस्तेय और अपरिग्रह को भी एक साथ लिया जा सकता है । चोरी और परिग्रह से समाज के धन का अपहरण होता है जो प्रत्यक्ष ही हिंसा है । जैसे हमें जितनी आवश्यकता है उतनी ही हवा हम लेते हैं, वैसे ही हमे अपनी आवश्यकता की यथेष्ट मात्रा के अनुसार ही परिग्रह करना चाहिए । अन्यथा हम अहिंसा का खण्डन करेंगे और चोर तथा शोषक कहलायेंगे ।

(४) अभय अहिंसा का लक्षण बतलाता है । अहिंसा कायरो के लिए नही बल्कि वीरो के लिए है । जो वीर हो, अपनी जान को न्योछावर करने के

लिए तुला हो, मृत्यु से डरता न हो, वही अहिंसा का पालन कर सकता है, क्योंकि अहिंसा के पालन में पीटे जाने पर भी अहिंसक को स्वयं अपने शत्रु को पीटना नहीं चाहिए और उस पर क्रोध तक भी न करना चाहिए। जब तक आत्मविश्वास न हो, आत्मबल न हो, तब तक इस प्रकार यातनापूर्ण, दुःख से ओत-प्रोत, अहिंसा के मार्ग का पालन असम्भव है। अतः अभय अहिंसा का ही एक प्रकार है।

(५) सर्वधर्मसमभाव और स्वदेशी भी अहिंसा के अनिवार्य परिणाम हैं। विदेशी वस्तुओं और विचारों को बिना स्वदेशीकरण के अनुसरण करने से स्वदेशी की क्षति होती है। विधर्म को अपनाने से स्वधर्म की हिंसा होती है और विधर्म में भी विधर्मी-सा गुण न होने के कारण अपनाने वाले के द्वारा क्षति पहुंचती है। सर्व-धर्मसमभाव न रखने से अपने धर्म की प्रशंसा करने से दूसरों के धर्म की निन्दा व्यक्त या अव्यक्त रहती है। इससे दूसरों के भावों को चोट पहुंचती है जो प्रत्यक्षतः हिंसा है। अतः अहिंसक के लिए इन दो व्रतों का पालन अनिवार्य हो जाता है।

(६) कायिक श्रम और अस्पृश्यता-निवारण भी अहिंसा के ही अंग हैं। हम कायिक श्रम न करने के कारण कायिक श्रम करने वालों को छोटा या नीच समझते हैं। इस प्रकार घृणा तथा दुर्भावना फैलाते हैं। अस्पृश्यता तो स्पष्ट ही हिंसा पर आधारित है। इसका निवारण अहिंसा का परिणाम है। किसी के भावों को दुःख पहुंचाना हिंसा है। अस्पृश्यता के कारण घृणा का समाजीकरण हो गया है। कायिक श्रम न करने से लोग दूसरों की कमाई का शोषण करते हैं और तिसपर भी अपने को श्रेष्ठ समझते हैं।

किन्तु सभी व्रतों की आदर्श स्थिति अप्राप्य है। हमें डर है अस्पृश्यता निवारण की भी आदर्श स्थिति अप्राप्य है क्योंकि वह भी अन्य व्रतों-जैसा ही है। कुछ-न-कुछ अस्पृश्यता सदैव रहेगी। पर उसका दायरा हम काफी कम कर सकते हैं और उसके सभी दुर्गुणों को दूर कर सकते हैं। व्रतों की आदर्श स्थिति को ही सत्य कहते हैं; यहाँ तक कि अहिंसा की भी आदर्श स्थिति सत्य है। इस दृष्टि से सभी गुण या व्रत, सत्य के विकास या प्रकार हैं। गान्धी ने लिखा, सत्य परमेश्वर है

१७ उपवास, प्रार्थना और भक्ति

उपर्युक्त नैतिक गुणों की प्राप्ति बिना उपवास, प्रार्थना तथा ईश्वर में श्रद्धा के नहीं हो सकती है। सभी गुण सत्य के विकास हैं और सत्य ही पर

मेश्वर है ! इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि ईश्वर की कृपा के विना सत्य का, उसका, साक्षात्कार नही हो सकता । यदि हम किसी गुण का पालन करना चाहे तो सर्वप्रथम हमे ईश्वर मे श्रद्धा रखनी चाहिए और उससे प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमें वह गुण प्रदान करे । गान्धी का स्वयं अपना अनुभव था कि ईश्वर साधक की सहायता करता है और साधक ईश्वर मे विश्वास रखकर अपनी साधना मे सफल होता है ।

ईश्वर के विना प्रार्थना असंभव है । प्रार्थना आत्मा की आवाज है । पुनश्च प्रार्थना को गान्धी ने आत्मा की खूराक भी कहा है । ईश्वर की चर्चा करना, उसके निमित्त कार्य करना, उसको अर्पण करके सभी कर्म करना, ये सब प्रार्थना मे ही आते है । गान्धी सभी प्रसिद्ध धर्मो की प्रार्थनाओ को प्रातः तथा सायम् करते थे । सायकाल वे प्रार्थना के बाद प्रवचन देते थे जिसमे देश तथा राष्ट्र की समस्याओ पर वे अपना मत देते थे । उसको भी वे प्रार्थना का ही अग समझते थे ।

प्रार्थना करने से हृदय और बुद्धि के सामने सदैव सद्‌विचार तथा सद्‌भावनाएँ रहती हैं जिनसे मनुष्य गलतियाँ करने से बच जाता है । प्रार्थना न करने वालो को कभी अपनी गलतियो से बचने का मार्ग ही पहले से नही सूझता है और न वह कभी अपनी गलतियो को मानता ही है । गान्धी ने प्रार्थना के बारे मे कहा कि "प्रार्थना अपनी कमजोरी और अयोग्यता को कबूलना है[७६]" । "प्रार्थना अपने हृदय को टटोलना है ।·········अपनी नम्रता को स्मरण करना है········ अपने को शुद्ध करना है[७७] ।"

प्रार्थना का मतलब है कि हम ईश्वर को अपने में देखना चाहते हैं[७८] । "प्रार्थना ईश्वर से कुछ मांगना है या ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना है[७९]"··· या "ईश्वर से मिलने की आत्मा की अत्यन्त भावुक चीख है[८०]"

प्रार्थना हृदय से होनी चाहिए । केवल वचन मे प्रार्थना नही हो सकती । मौन रहकर प्रार्थना की जा सकती है । मौन प्रार्थना श्रेष्ठ भी मानी जाती है । जहाँ प्रार्थना हो वह स्थान भी शान्त तथा नीरव होना चाहिए । कोलाहलपूर्ण स्थान मे सच्ची प्रार्थना नही हो सकती है । प्रार्थना नियमित रूप से प्रतिदिन होनी चाहिए । सच्चे भक्त तो प्रतिक्षण ही प्रार्थना करते रहते है ।

यह पूछे जाने पर कि क्या प्रार्थना के समय को जन-सेवा में लगाना ठीक

नहीं है, गान्धी ने कहा कि बड़े-से-बड़ा कर्मयोगी भी कभी प्रार्थना या उपासना के भक्तिपूर्ण गीतों को नहीं छोड़ता। आदर्श रूप से यह कहा जा सकता है कि सच्ची जन-सेवा स्वयमेव पूजा है अतः ऐसे भक्तों को प्रार्थना मे समय व्यय करने की आवश्यकता नहीं है। पर यह आदर्श दुष्प्राप्य है। यथार्थ में भजन-प्रार्थना सेवा के सहकारी है और भक्त के हृदय में ईश्वर के स्मारक है[८१]।

फिर पूछे जाने पर कि क्या प्रार्थना द्वारा ईश्वर को याद दिलाने की जरूरत पड़ती है, गान्धी ने कहा कि नहीं। ईश्वर को याद दिलाने की जरूरत नहीं है। प्रार्थना अपने को याद दिलाना है। यह बतलाती है कि मैं कौन हूं? इसका कहना है कि मैं अपने अन्दर बैठे अन्तर्यामी को जानूं और उससे मदद लेकर अपना कर्म करूं।

पुनश्च उपवास के विषय में गान्धी ने कहा कि यह एक प्राचीन संस्था है। यह सभी धर्मों का प्राण है। शरीर को कष्ट देना आध्यात्मिक प्रगति का सर्वत्र सर्वदा एक कारण माना गया है। "बिना उपवास के प्रार्थना नहीं हो सकती। पूरा उपवास आत्मा का अक्षरशः पूर्ण बलिदान है। यह सच्ची प्रार्थना है[८२]।"

उपवास भीतर से होना चाहिए। बाहर से उपवास करना और भीतर मन में भोग करना उपवास नहीं है। मन से उपवास करने में ईश्वर की भक्ति की आवश्यकता है। जब तक ईश्वर में श्रद्धा-विश्वास न हो, तब तक मन से उपवास रखना कठिन है। मन का ध्यान ईश्वर में लगा देने से वह विषयों से अपने-आप हट जाता है। अन्यथा विषय इतने प्रबल हैं कि वे बलात् मन पर चढ़े रहते हैं। "मन का शरीर के साथ निकट का संबन्ध है और विकारी मन विकारी खुराक खोजता है। विकारी मन तरह-तरह के स्वाद और भोग ढूंढ़ता है। और फिर उस खुराक और भोग का असर मन पर होता है, इससे और उतने अंश मे खुराक पर अंकुश रखने की और निराहार की आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है।

"विकारी मन शरीर और इन्द्रियों पर काबू पाने के बजाय उनके वश होकर काम करता है। इससे भी शरीर की शुद्ध और कम-से-कम विकार उत्पन्न करने वाले आहार की मर्यादा की और मौके-मौके से निराहार की—उपवास की आवश्यकता रहती है। अतः जो यह कहते हैं कि संयमी को खाने की मर्यादा की या उपवास की जरूरत नहीं है वे [illegible] भ्रम में है

जितने कि खूराक और निराहार को सर्वस्व मान लेने वाले मेरा अनुभव तो मुझे यह सिखलाता है कि जिसका मन संयम की ओर जा रहा है उसके लिए खूराक की मर्यादा और निराहार बहुत मददगार हैं [८३]।”

इतना होने पर भी गान्धी का कहना है कि उपवास का “मुझ पर तो आरोग्य और विषयवासना दोनों की दृष्टि से बहुत अच्छा असर हुआ। फिर भी मैं जानता हूं कि उपवासादि का ऐसा असर सभी पर होना अनिवार्य नियम नहीं है। विषय-वासना को रोकने में इन्द्रियदमन की इच्छा से किए हुए उपवास का ही प्रभाव होता है।........उपवास-काल में विषय-वासना को रोकने और स्वाद को जीतने की सतत भावना हो तभी उसका फल होता है। बिना हेतु और बिना मन के किए हुए शारीरिक उपवास का स्वतंत्र परिणाम विषय-वासना के दमन के रूप में प्रकट होगा, यह मानना निरा भ्रम है [८४]।”

उपवास आत्मशुद्धि का साधन है। यह आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-परीक्षण है। अपने किए हुए दोषों या पापों के प्रायश्चित्त के लिए भी उपवास करना अच्छा है। इसका टिकाऊ प्रभाव पड़ता है।

गान्धी ने इसको अनशन का नाम दिया। वे इसको धार्मिक तथा नैतिक संस्था ही नहीं मानते थे। उन्होंने इसका सामुदायिक प्रयोग किया। सामाजिक तथा राजनैतिक बुराइयों को मिटाने के लिए उन्होंने कई बार अनशन किया। कुछ बार तो आमरण अनशन किया। प्रत्येक बार यथेष्ट लाभ हुआ। समाज और राजनीति में स्वास्थ्य-लाभ हुआ, ठीक वैसे ही जैसे व्यक्तिगत उपवास से शारीरिक स्वास्थ्य-लाभ होता है।

“उपवास किसी के शरीर पर असर डालने के लिए नहीं किया जाता। वह तो [illegible] है। इससे उपवास का असर क्षणिक नहीं होता। वह टिकाऊ होता है। उपवास करने वाले में इसके लिए नैतिक योग्यता है या नहीं, यही जुदी बात है [८५]।”

सार्वजनिक अनशन राजनीति तथा समाज-नीति की अनेक समस्याओं को हल कर देता है। “अहिंसा के पुजारी के पास यही आखिरी हथियार है। जब इन्सानी अक्ल काम नहीं करती तो अहिंसा का पुजारी उपवास करता है। उपवास से प्रार्थना की तरफ तबियत ज्यादा तेजी से जाती है। मानो उपवास रूहानी चीज है और उसका रुख ईश्वर की तरफ होता है।

इस तरह के काम का असर जनता की जिन्दगी पर यह होता है कि अगर वह उपवास करने वाले को जानती है तो उसकी सोई हुई अन्तरात्मा जाग उठती है[८६]।"

पर हर चीज का शास्त्र होता है। उपवास या फाके का भी शास्त्र है। 'बगैर तरीके के फाका करने में धर्म नहीं होता। अगर कोई कहे कि जब तक ईश्वर मेरे सामने नहीं आयेगा तब तक मैं भूखों मरूँगा, तो वह मर भले ही जाय, पर ईश्वर उसे नहीं दिखेगा। सार्वजनिक अनशन का भी एक शास्त्र है, और उसको जानने वाला मैं हूँ। यद्यपि मै भी उसे पूरा नही जानता, पर सबसे ज्यादा मैं ही उसे जानता हूँ[८७]।"

सार्वजनिक अनशन के लिए निम्नलिखित बातो का होना जरूरी है—

(१) अनशन की नैतिक तैयारी करनी चाहिए। नैतिक तैयारी का मतलब यह है कि एक ओर उपवास करने वाले को अपने को नीति की दृष्टि से अच्छा बनाना चाहिए और दूसरी ओर उसे अन्य शान्तिपूर्ण ढग से अपने कार्य की सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।

(२) स्वार्थ की पूर्ति के लिए उपवास नहीं करना चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ को पूरा करने के लिए, किसी से रुपया लेने के लिए, किसी को धमकाने के लिए उपवास नही करना चाहिए। ऐसे उपवासों का कोई भी महत्त्व नही है और न वे फलप्रद ही सिद्ध होते है। उपवास का लक्ष्य आत्मशुद्धि, लोक-कल्याण, नैतिक जागृति तथा सत्य की विजय है। जब तक निःस्वार्थ भाव से उपवास न किया जाय, उसका कोई फल नही होता।

(३) उपवास का आधार कोई ऐसा सार्वजनिक विषय हो जिसकी पूर्ति नीतिसंगत हो, पर वह अन्य उपायों से प्राप्त न हो सका हो।

(४) उपवास करने वाले के साथ उस विषय पर सच्चा अभ्रान्त, निश्चित तथा प्रचुर लोकमत हो। उपवास करने वालो पर लोगो की श्रद्धा हो। वे उसे जानते हों।

(५) उपवास करने वाले हृदय से साहसी होकर पूरी तरह अनशन करें। वे मन से भोग न भोगते हो। मरने के लिए भी वे तत्पर हों।

(६) उनमें विश्वास हो कि उनके उपवास का फल निश्चित अच्छा होगा, फिर वह चाहे उनके मरने के बाद ही क्यों न हो।

(७) विश्वस्त लोगों के अभ्रान्त आश्वासन पर कि वे उपवास के लक्ष्य

को प्राप्त करने के लिए तन-मन-धन से कोशिश करेंगे, अनशन छोड़ा जा सकता है, क्योंकि नैतिक चेतना रूपी उसका फल मिल गया।

(८) उपवास करने वाला ईश्वर में अटूट श्रद्धा रखता हो।

(९) उपवास प्रायश्चित्त के लिए भी किया जा सकता है।

उपवास धमकी देना नहीं है। यह प्राणों की भूठ मे ही बाजी लगाना नहीं है। यह अनैतिक उपाय नहीं है। यह विशुद्ध नैतिक उपाय है।

पर अन्य सस्थाओ की भांति उपवास का भी कभी-कभी अनुचित प्रयोग कर लिया जाता है। किन्तु साधको को इससे परहेज करना चाहिए। सच्चा उपवास करते-करते उन्हे सहज ही ज्ञात हो जायगा कि किन परिस्थितियों में उपवास या सार्वजनिक अनशन करना चाहिए और किनमे नहीं करना चाहिए।

उपवास और प्रार्थना पर ध्यान देते हुए गान्धी ने कहा कि "ईश्वर की प्रार्थना का फल नहीं मांगा जा सकता और न उसकी प्रार्थना छोड़ी ही जा सकती है। खाने-पीने का उपवास भले ही हम कर लें—समय-समय पर करना भी चाहिए, पर प्रार्थना का फाका नहीं हो सकता। हमें आखिरी सास तक राम को भजना चाहिए........वह धैर्य, वह सबूरी हमे नामस्मरण से ही मिल सकती है [८८]।" कबीरदास ने कहा भी तो है कि "मन लागो मेरो यार फकीरी में।........साहब मिलै सबूरी में [८९]"।

गान्धी सिर्फ प्रार्थना और उपवास के लिए ही ईश्वर मे विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि ईश्वर की कृपा के बिना कोई काम नहीं हो सकता। प्रार्थना, उपवास, एकादश व्रतो का पालन, रचनात्मक कार्यक्रम, वर्णाश्रम-धर्म तथा सत्याग्रह-आन्दोलन सब कार्यों का सम्यक् पालन करने के लिए ईश्वर का अनुग्रह आवश्यक है। उनका मत है कि सच्ची निष्ठा वालो को ईश्वर उबार लेता है और जाने-अनजाने सहायता करता है। इस प्रकार वे भक्ति को साधारण श्रद्धा तथा दैनिक प्रार्थनादि तक ही नही सीमित रखते थे। वे भक्ति के चरम सिद्धान्त 'अनुग्रहवाद' या 'पुष्टिवाद' का भी समर्थन करते थे जिसका सबसे सुन्दर परिपक्व वर्णन वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद मे मिलता है।

पर इस अनुग्रहवाद को मानते हुए भी गान्धी वैयक्तिक प्रयत्न पर भी जोर देते है। उनकी भक्ति इस कारण मार्जार-किशोर-न्याय का प्रपत्तिमार्ग नहीं है, बल्कि वह कपि-किशोर-न्याय का प्रपत्तिमार्ग है। प्रपत्तिमार्ग के इन दो

सम्प्रदायों को रामानुज-दर्शन में काफी प्रतिष्ठा मिली है। पर गान्धी कपि किशोरवत् प्रपत्ति अर्थात् शरणागति के पक्ष मे है जिसम जीव को शरणापन्न होने पर भी कर्म करना पडता है।

इस प्रकार भक्ति, प्रार्थना तथा उपवास का आसरा लेकर ही नैतिक गुणों का सपादन हो सकता है। फिर इन सब के सहारे ही वर्णाश्रम धर्म, रचनात्मक कार्यक्रम तथा सत्याग्रह-आन्दोलन का निष्काम भाव से पालन हो सकता है। यह सब करते-करते ही लोग सच्चा स्वराज्य—वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक—प्राप्त कर सकते हैं। यही गान्धी का वह नव्य कर्ममार्ग है जिसे उनके पूर्व किसी ने इस रूप मे प्रस्तुत नही किया था।

१८ ज्ञान, कर्म और भक्ति

गान्धी के नव्य कर्ममार्ग का लक्ष्य आत्मशुद्धि द्वारा ज्ञानोदय प्राप्त करना है। बुनियादी ज्ञानमीमांसा का विचार करते हुए हमने देखा कि सस्कार से ही अन्तरात्मा के ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अत लगता है कि गान्धी का मार्ग क्रम से कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग था अर्थात् वे कर्म और ज्ञान के क्रम-समुच्चय को मानते थे। पर यह ऊपर से ही दिखाई पडता है। भीतर पैठने से मालूम होता है कि उनके मार्ग मे ज्ञान और कर्म का युगपत् समुच्चय है। ज्यो ज्यो कर्म होता है त्यो-त्यो ज्ञान होता है और ज्यो-ज्यो ज्ञान होता है त्यो-त्यो कर्म होता है। उनका परमेश्वर भी निष्क्रिय नही है। वह भी क्रियावान है। फिर वे कैसे कर्म से सन्यास ले सकते हैं? विशुद्ध ज्ञान की अवस्था जिसमे कर्म की आवश्यकता नहीं है उनके लिए आदर्श है। पर उस आदर्श तक वे पहुँचे नहीं हैं। और उनका कहना भी है कि जब तक देह रहती है तब तक उस आदर्श तक पहुँचा भी नहीं जा सकता है। इससे सिद्ध है कि वे ज्ञान और कर्म के सहसमुच्चय मे विश्वास करते थे।

फिर चूंकि उनके कर्ममार्ग की प्रेरणा ईश्वर की श्रद्धा मे है और उनका ज्ञान ईश्वर-दर्शन या हरिदर्शन है जिसके लिए निशिदिन प्रतिक्षण सच्ची प्रार्थना हृदय से होती रहनी चाहिए, इसलिए हम कह सकते हैं कि वे भक्ति को भी अपने मार्ग में समन्वय करते थे। इस प्रकार उनका मार्ग ज्ञान-कर्म और भक्ति का सह-समुच्चय हुआ। इसमे कर्म और भक्ति का तुल्य महत्त्व है। पारिभाषिक पदावली मे हम कहे तो कहेंगे कि कर्म और भक्ति का

समसमुच्चय है और ज्ञान का स्थान इन दोनो से कम है। पर उसका भी समुच्चय कर्म और भक्ति के साथ ही साथ है। उसका निराकरण हम नहीं कर सकते हैं।

ज्ञान और भक्ति दोनों कर्मपरक हैं। अतः गान्धी प्रायः अपने मार्ग को कर्म-मार्ग ही कहते हैं। वे अपने को कर्मयोगी कहते है। पर कर्मयोगी शब्द में वे भक्ति और ज्ञान को भी स्थान देते हैं। यह बुनियादी ज्ञानमीमांसा से और कर्ममार्ग की सफलता के लिए भक्ति की आवश्यकता से नितांत स्पष्ट है।

पर यह जान लेना आवश्यक है, कि गान्धी समुच्चयमार्गी होते हुए भी विशुद्ध ज्ञानमार्ग को आदर्श अवस्था में संभव मानते है। उनका कहना है कि हम—जैसे अपूर्ण मनुष्यो के लिए कर्म, भक्ति और ज्ञान का समुच्चय-मार्ग ही पल्ले पड़ा है, पर यह संभव नही वरन् निश्चित है कि हमें जब अपने आदर्श की प्राप्ति होगी तब कर्म और भक्ति छूट जायेंगे और विशुद्ध अद्वैत ज्ञान ही शेष रह जायगा।

उनके निम्नलिखित वचन इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं—

१—"एक ऐसी स्थिति होती है, जब आदमी को विचार जाहिर करने की जरूरत नही रहती। उसके विचार ही कर्म बन जाते हैं। वह संकल्प से कर्म कर लेता है। ऐसी स्थिति जब आती है तब आदमी अकर्म मे कर्म देखता है, यानी अकर्म से कर्म होता है, ऐसे कहा जा सकता है।...... मैं ऐसी स्थिति से दूर हूं। उस तक पहुंचना चाहता हू। उस ओर मेरा प्रयत्न रहता है"।[८०]

२—शङ्कराचार्य के प्रातःस्मरणम् के तीन श्लोकों के सिद्धान्तों के बारे मे उन्होंने कहा कि "उनके अद्वैत सिद्धान्त को मानता हूं नहीं, लेकिन

तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः

कहते संकोच होता है। क्योंकि उतनी साधना अभी पूरी नहीं हुई है"[८१]।

३—"कर्म के बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्म द्वारा ज्ञानी हुए।"[८२]

४—"बिना भक्ति के ज्ञान हानिकरक है। इसलिए कहा गया है कि भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा[८३]।

५—"धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासा के बिना ज्ञान नहीं मिलता"[८४]।

६—"सत्य के साथ ज्ञान—शुद्ध ज्ञान अवश्यंभावी है। जहां सत्य नहीं

वहाँ शुद्ध ज्ञान की संभावना नहीं है। इससे ईश्वर नाम के साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नहीं। इसीलिए हम ईश्वर को सच्चिदानन्द के नाम से पहचानते हैं। इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसी के लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए लेकिन सत्य के संपूर्ण दर्शन तो इस देह से असंभव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार संभव नहीं होता। अतः अन्त में श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है"[८५]।

चन्द्रशंकर शुक्ल ने भी अपनी कृति 'गान्धीज व्यू आफ लाइफ' (गान्धी का जीवन-दर्शन) में दिखलाया है कि गान्धी ज्ञान, भक्ति और कर्म के सह-समुच्चयवादी थे। इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे की पदावली में उन्होंने यह दिखलाया है कि ये (कर्म, भक्ति और ज्ञान) परस्पर विरोधी (opposite) नहीं हैं, प्रत्युत वे एक दूसरे के व्यवच्छेदक (Distinct) हैं, अतः उनका सहाव-स्थान तर्कसंगत है[८६]।

परन्तु यह सहावस्थान, यह सहसमुच्चय जब तक विशुद्ध ज्ञान नहीं मिलता, जब तक ईश्वर का साक्षात्कार, आत्मज्ञान, या हरिदर्शन नहीं होता, तभी तक है। सच्चा ज्ञान मिलने पर भक्ति और कर्म छूट जाते हैं और विचार-मात्र से, संकल्प-मात्र से कर्म होते हैं। यही अकर्म से कर्म करने की स्थिति है। यह भगवान् के लिए ही संभव है। गान्धी का भी आदर्श भगवान् में विलीन होने का है। इसको उन्होंने बार-बार कहा है। उसमें विलीन हो जाने पर फिर कर्म उनसे छूट जायेंगे। यही निरपेक्ष ज्ञान की अवस्था है।

इस स्थिति को व्यक्त करने वाले निम्नलिखित उपनिषद् मंत्र को हम उनकी भजनावलि में संगृहीत पाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥[८७]

अर्थात्

ईश्वर का दर्शन होने पर हृदय की गाँठ टूट जाती है, सब सन्देह दूर हो जाते हैं और सभी प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं।

१८ अद्वैतवाद को महान् देन

स्पष्ट है कि गान्धी के मार्ग में यथार्थ और आदर्श, व्यवहार और परमार्थ दोनों की मान्यता है। उनका यथार्थ भी आदर्श से प्रभावित होकर चलता है। बिना आदर्श के उनका यथार्थ टिक नहीं सकता है। इस प्रसग में हमारा मत है कि गान्धी का तरीका उन अद्वैत वेदान्तियों की तरह है जो कर्म-भक्ति का ज्ञान से क्रमसमुच्चय करते हैं। अद्वैतवेदान्त में प्रसिद्ध है कि "व्यवहारे तु भाट्टनय" अर्थात् व्यवहार में, यथार्थ मे कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त माना जाय, अर्थात् कर्म-मीमांसा के अनुसार जीवन-निर्वाह किया जाय। फिर जैसे कुमारिल ने कहा कि कर्म-मीमांसा के उपरान्त आत्म-ज्ञान के लिए वेदान्त की शरण में जाना चाहिए, वैसे गान्धी भी कहते हैं कि कर्म के अनन्तर ज्ञान की पराकाष्ठा की अवस्था है जो आत्मज्ञान से ही उपलब्ध होती है। गान्धी ने कुमारिल की कर्ममीमांसा के स्थान पर अपनी नव्य कर्ममीमांसा स्थापित की। यह उनकी पहली विशेषता है। इस प्रसंग में उनकी दूसरी विशेषता है कि वे व्यवहार मे भी आदर्श को कभी भुलाते नहीं है और यथाशक्ति अपने व्यवहार को आदर्श के अनुरूप ही बनाते है, जब कि कुमारिल की कर्ममीमांसा मे प्रायः अद्वैत-तत्त्व की अनुकूलता को भुलाकर बिलकुल द्वैतभावना के अनुसार ही जीवन-दर्शन का निर्माण होता है। कुमारिल व्यवहार मे अद्वैतभावना को लाने के लिए नही कहते। गान्धी का कहना है कि यद्यपि व्यवहार में द्वैत-भावना अनिवार्य है तथापि हम उसको बहुत-कुछ अद्वैत-भावना के आधार पर प्रतिष्ठित कर सकते हैं। कुमारिल के समाज-दर्शन को अद्वैत वेदान्तियों ने मान लिया था। उन्होने अपने [illegible] दर्शन की प्रतिष्ठापना नही की थी। गान्धी ने इस अभाव को पूरा कर दिया। उन्होने कुमारिल की कर्ममीमांसा के स्थान पर हमें अद्वैतवाद-परक समाजदर्शन दिया। उन्होंने अद्वैततत्त्व के आधार पर समाज-रचना करने का दर्शन दिया और स्वयं उस पर आचरण कर और करवा कर सिद्ध किया कि वह व्यवहार्य है। इस प्रकार 'व्यवहारे तु भाट्टनय' इस उक्ति से अधिक समीचीन अर्वाचीन अद्वैत वेदान्त के लिए "व्यवहारे तु गान्धीनय" यह उक्ति है। सिद्धान्त और व्यवहार की एक-रूपता का बड़े-से-बड़े पैमाने पर प्रयोग करना गान्धी की अप्रतिम विशेषता रही है। यही कारण है कि उन्होने अद्वैत वेदान्त को इतनी महान् देन से विभूषित किया।

टिप्पणियां और सन्दर्भ

१ भगवद्गीता ५।११।
२ गीतामाता पृ० ११२।
३ वही पृ० १११।
४ वही पृ० १३८।
५ वही पृ० १५०।
६ वही पृ० १५६।
७ वही पृ० १३६।
८ वही पृ० १४१।
९ भगवद्गीता ३।३५।
१० हिन्दू धर्म, पृ० ३६०-३८८।
११ किसी स्मृति का वचन है।
१२ हिन्दू धर्म पृ० ३६३।
१३ वही पृ० ३६२।
१४ वही पृ० ३७८-३७९।
१५ आत्मकथा पृ० १९९।
१६ Vishwa Bharati Quarterly, Gandhi Memorial Peace No, Shantiniketan, पृ० ३५।
१७ गीता माता पृ० ३७।
१८ भगवद्गीता ३।१६।
१९ The Conception of Spiritual Life in Mahatma Gandhi and Hindi Saints, R D Ranade, पृ० ११-१५।
२० Mahatma Gandhi, ed S Radhakrishnan, पृ० १३।
२१ देखिए, आश्रम-भजनावलि पृ० १०।
२२ धर्मनीति पृ० २३।
२३ वही पृ० १२६।
२४ ऊपर उद्धृत विश्व भारती क्वार्टली, पृ० १३।
२५ वही पृ० २६।
२६ पन्द्रह अगस्त के बाद, पृ० १३७।
२७ गान्धीवाद समाजवाद पृ० ११।

२८ वही पृ० ३ ।

२९ हिन्दू धर्म, पृ० २२९-२३२ ।

३० प्रार्थना-प्रवचन-भाग १, पृ० १४३ ।

३१ वही पृ० १६९ ।

३२ गीता-माता पृ० ५६६-५६७ ।

३३ The Power of Non-Violence, Richard Gregg, पृ० १४७ ।

३४ आत्मकथा, पृ० ४४२ ।

३५ वही पृ० ४४१-४४२ ।

३६ For the Pacifists, Mahatma Gandhi, पृ० ४४ ।

३७ हिन्दू धर्म पृ० २३५ ।

३८ आत्मकथा पृ० ७९ ।

३९ वही पृ० १७ ।

४० वही पृ० १८६ ।

४१ धर्मनीति, पृ० २३३-२३४ ।

४२ वही पृ० १३७-१३८ ।

४३ वही पृ० १३९ ।

४४ वही पृ० १४० ।

४५ The Gita According to Gandhi, Mahadeva Desai, पृ० १७६-१७८ ।

४६ भगवद्गीता ३।१२ ।

४७ ईश उपनिषद् १ ।

४८ धर्मनीति, पृ० १२९-१३० ।

४९ वही पृ० १३१ ।

५० अनीति की राह पर, पृ० १०५ ।

५१ धर्मनीति, पृ० १३१-१३६ ।

५२ गीतामाता पृ० १३१-१३२ ।

५३ भगवद्गीता २।५९ ।

५४ धर्मनीति, पृ० १२७ ।

५५ वही पृ० १४१ ।

५६ वही पृ० १४२-१४३ ।

५७ वही पृ० १४४ ।

५८ ऊपर उद्धृत विश्वभारती क्वार्टर्ली, पृ० ११ ।
५९ धर्मनीति, पृ० १४६ ।
६० वही पृ० १४७ ।
६१ वही पृ० १४७ ।
६२ वही पृ० १५९ ।
६३ वही पृ० १५८ ।
६४ प्रार्थना-प्रवचन भाग दो, पृ० २३७ ।
६५ धर्मनीति, पृ० १७० ।
६६ वही पृ० १७१ ।
६७ वही पृ० १७२ ।
६८ वही पृ० १७३ ।
६९ Selected Writings of Mahatma Gandhi, Ronald Duncan, पृ० ११४-११५ ।
७० धर्मनीति पृ० १७४ ।
७१ Philosophical and Other Essays, R D Ranade पृ० १८० ।
७२ धर्मनीति पृ० १५० ।
७३ वही पृ० १३७ ।
७४ गीता-माता, पृ० ५४४ ।
७५ धर्मनीति, पृ० १२४ ।
७६ हिन्दू धर्म, पृ० ७१६ ।
७७ वही पृ० १२५ ।
७८ वही पृ० १२६ ।
७९ वही पृ० १२३ ।
८० वही पृ० १२३ ।
८१ वही पृ० १२७-१२८ ।
८२ वही पृ० १०३ ।
८३ आत्मकथा, पृ० ४१७ ।
८४ वही पृ० ४२० ।
८५ पन्द्रह अगस्त के बाद, पृ० ७५ ।
८६ वही पृ० १७५-१७६ ।
८७ प्रार्थना-प्रवचन, भाग एक, पृ० १७१

८८ वही पृ० १७० ।
८९ आश्रम भजनावलि ।
९० पन्द्रह अगस्त के बाद, पृ० ८९ ।
९१ आश्रम भजनावलि पृ० ४ ।
९२ गीता-माता पृ० १०८ ।
९३ वही पृ० १०७ ।
९४ वही पृ० ६ ।
९५ धर्मनीति पृ० ११७-१२१ ।
९६ वही पृ० ६७ ।
९७ आश्रम भजनावलि ।

अध्याय ५

बुनियादी तत्त्ववाद

१ कर्ममय तथा ज्ञानमय जागृति

गान्धी का दर्शन जीवन की मीमांसा है। वे जीवन की समस्याओं पर विचार करते हुए, उन पर काम करते हुए, दर्शन की सनातन समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। उनकी नैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जागृति उन्हें विवश करती है कि वे वास्तविकता का, तत्त्व का वैसा ही निरूपण करें जैसा कि उनकी जागृति निर्धारित करती है। इस जागृति को हम कर्मठ जागृति या कर्ममय जागृति कह सकते हैं। सत् क्या है? असत् क्या है? जीव क्या है? संसार क्या है? मृत्यु क्या है? जन्म क्या है? जीवन क्या है? इन प्रश्नों पर कर्ममय जागृति बहुत प्रकाश डालती है और यथासंभव इनका सही उत्तर भी देती है। कर्ममय जागृति के साथ ही गान्धी के व्यक्तित्व में ज्ञानमय जागृति लगी हुई है। कर्ममय जागृति से प्राप्त अनुभवों को ज्ञानमय जागृति सुसम्बद्ध करती है। इसके फलस्वरूप गान्धी अपने दर्शन का सुसंबद्ध रूप हमारे सामने रखते हैं। इस दर्शन से उनको, उनके साथियों को, उनके अधिकांश देशवासियों को सन्तोष हुआ था और हो रहा है। फलतः उन्होंने इसको एक नाम विशेष से, गान्धीवाद से, अभिहित किया। इसके तत्त्ववाद को हम बुनियादी तत्त्ववाद कहेंगे क्योंकि यह तत्त्वज्ञान के तत्त्वदर्शन में उन [illegible] सिद्धान्तों का निरूपण करता है जो सनातन दर्शन ([illegible] phi[illegible] pere[illegible]) में सदा विद्यमान रहते हैं और जिनका खण्डन किसी भी [illegible] द्वारा करना आचार और [illegible] के विरुद्ध है।

२ सत का सत्य

तत्त्ववाद में [illegible] का, अस्तित्व का, सत् या सत्ता का विवेचन किया जाता है। गान्धी सत् का निरूपण करते हुए कहते हैं —

"सत्य शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्ति-सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती नहीं है। परमेश्वर सत्य है, यह कहने की अपेक्षा 'सत्य ही परमेश्वर है' कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ता के बिना, सरदार के बिना, नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने पर तो पता लगेगा कि सत् या सत्य ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करने वाला है।

"सत्य के साथ ज्ञान—शुद्ध ज्ञान-अवश्यभावी है। जहाँ सत्य नहीं है, वहाँ शुद्ध ज्ञान की सभावना नही है। इससे ईश्वर नाम के साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम सच्चिदानन्द के नाम से भी पहचानते हैं।

"इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसी के लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए"।

यहाँ पर निम्नलिखित पाँच सारगर्भित बाते कही गयी हैं —

(१) सत् है। वह एक है।

(२) सत् का ही नाम सत्य है।

(३) सत्य का ही नाम परमेश्वर है।

(४) सत्य-रूपी परमेश्वर सच्चिदानन्द है।

(५) हमारा अस्तित्व इसी सत्य-रूपी परमेश्वर या सच्चिदानन्द के लिए है।

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से यहाँ दो प्रकार के अस्तित्व कहे गये हैं—एक अस्तित्व तो सत् या सत्य या परमेश्वर या सच्चिदानन्द का है जो एक ही है। और दूसरा अस्तित्व 'हमारा' अस्तित्व' है। हम बाद को देखेंगे कि इन दो प्रकार के अस्तित्वो का क्या तत्त्ववैज्ञानिक स्तर है और इनमे क्या सबन्ध है? यहाँ हम सिर्फ इतना जानकर सतोष करें कि "सत्य के बिना किसी दूसरी चीज की हस्ती ही नहीं है" अर्थात् सत्य के बिना हमारा अस्तित्व ही नहीं है। हमारा अस्तित्व यदि कुछ है तो वह इसी सत्य मे प्रतिष्ठित है। अतः हम पहले सत् या सत्य के ही अस्तित्व का निरूपण करेंगे। वस्तुतः सत्, सत्य

और अस्तित्व समानार्थी शब्द हैं। गान्धी इन तीनों से एक ही पदार्थ बोध करते-कराते हैं।

३ तत्त्व महत्त्व है

सत के विषय मे जब कभी गान्धी विचार करते हैं तो उसे वे सत्य रूप मे लेते है। उनका तात्पर्य है कि सत् सत्य है अर्थात् सत् होना चाहिए "है" का द्योतक सत् है और 'होना चाहिए' या 'अवश्य होना चाहि[illegible] का द्योतक सत्य है। सत् को सर्वदा सत्य कहने के कारण, सत्य को सत [illegible] अधिक महत्त्व का समझने के कारण गान्धी अपनी तत्त्वमीमासा को महत्त्व मीमासा (Axiology) बना देते हैं। महत्त्वविहीन तत्त्वज्ञान उनको [illegible] नही है। उनकी दृष्टि मे 'होना चाहिए' 'है' से अधिक महत्त्व का है। 'हो[illegible] चाहिए' पर ही 'होना' या 'है' निर्भर है। महत्त्व पर ही तत्त्व अवलम्बि[illegible] है। या यो कहा जाय कि महत्त्व ही तत्त्व का लक्षण है। महत्त्वमीमास[illegible] इस कारण तत्त्वमीमासा का बोधक है। सत्य इस प्रकार सत का आधा[illegible] है। सत् शब्द का अर्थ सत्य शब्द के अर्थ से कम है। सत्य अधिक गहरा है वही महान् से महान् (महतो महीयान्) है। उसका भाव है महत्त्व। [illegible] उसी को सत्य समझें। इसे किसी अल्प वस्तु को तत्त्व न समझना चाहिए। अ[illegible] तत्त्वमीमासा तत्त्वमीमासा का आधार [illegible]।

४ सत का [illegible]

[illegible] प्रकार [illegible] मे लेने [illegible] गीता [illegible] दी [illegible]।

[illegible]

[illegible]—

[illegible] और [illegible] सत शब्द व्यवहृत होता है।

[illegible] और दान मे दृढता को भी सत [illegible] निमित्त [illegible] भी सत् कहलाता है[2]।"

फिर इसी को वे गीता-बोध मे कहते हैं—

"सत् अर्थात सत्य, कल्याण-रूप। मतलब कि ईश्वर एक है, वही है, वही सत्य है, वही कल्याण करने वाला है[3]।"

यहाँ स्पष्ट है कि सत् शब्द का अर्थ 'सत्य है और सत्य का अर्थ कल्याण या मूल्य या पुरुषार्थ (Value) है। ईश्वर इसी मूल्यरूपी सत्य की अनिवार्य विशेषता है।

ऊपर 'सत्' शब्द के जो चार अर्थ बतलाए गये है वे सभी कल्याण या मूल्य के ही द्योतक है।

(१) सत् का अर्थ 'सत्य और कल्याण' है। यहाँ सत्य और कल्याण के अर्थ मूल्य या परम अर्थ हैं।

(२) सत् का अर्थ 'भला काम' है। इसमे जाहिर है कि सत्यरूपी मूल्य कर्मपरायणता है।

(३) सत् का अर्थ यज्ञ, तप और दान मे दृढता है। यज्ञ, तप और दान नित्य कर्म हैं। अर्थात् यहा सत् का अर्थ हुआ 'नित्य कर्म मे दृढता' अर्थात् सत्यरूपी मूल्य को प्राप्त करने के लिए नित्य आग्रह करना।

(४) सत् का अर्थ सत्य के निमित्त कर्म है, यह सकल्प व्यक्ति करता है। अर्थात् यहाँ सत् का मतलब व्यक्ति की सकल्पशक्ति या अन्तरात्मा है।

वस्तुतः ये चारो अर्थ मूल्य के स्वरूप का वर्णन करते है। मूल्य व्यक्ति मे सकल्प है, उसमे सकल्प-कृत कर्म है, उस कर्म की दृढता है और उस कर्म का आकर्षण भी है। गान्धी मूल्य का इस तरह इन्हो चार रूपो मे अर्थ करते हैं।

५. अहिंसावादी मूल्य-मीमांसा

महत्त्व को तत्त्व का लक्षण मान लेने से, भावित्व या भविष्यत्व को मूल या सत् का स्वरूप मान लेने से, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महत्त्वरूपी मूल्य का [illegible] विचारों में [illegible] आ [illegible] है। [illegible] लिए [illegible] आग्रह है। [illegible] उसकी ओर [illegible] पर [illegible] है। गान्धी इसी [illegible] पर [illegible] लोकव्यवहार [illegible] अर्थात् [illegible] है कि व्यवहार परमार्थ पर निर्भर है। [illegible] है। उनका [illegible] सत्याग्रह व्यवहार है। व्यवहार [illegible] है [illegible] आग्रह है। [illegible] दूसरी ओर यदि व्यवहार उन्मुक्त न हो

रहता तो उसमे गड़बडी आती है। व्यवहार को ही मर्यादित शासित कर से परमार्थ-रूपी सत्य का नाम ईश्वर पड़ा। चूंकि वह परम तत्त्व भी है अर्थात् उसका विभाजन नहीं हो सकता है और वह अविकल या निष्कः है, इसलिए हम उसको परम सत्य या परमेश्वर भी कहते है।

इस महत्त्वमीमांसामूलक तत्त्ववाद की पुष्टि गान्धी पुन पुनः करते, जब कि वे कहते हैं कि परमेश्वर सत्य, ज्ञान और आनन्द है, वह सच्चिदानन्द है। सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वतः मूल्य हैं। उनका स्वयमेव महत्त्व है। उनसे हमे तृप्ति मिलती है। हम स्वभावतः उनको प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं हमारे सभी व्यवहारों का लक्ष्य उन्हीं को प्राप्त करना है।

जब उन्होंने कहा कि सत्य ही अहिंसा है या सत्य साध्य है और अहिंसा साधन है तब उन्होंने इसी सत्य को प्राप्त करने का तरीका बतलाया। सत्य के अभाव में, सत्याग्रह न होने पर, अहिंसा का पालन असंभव है। यदि अहिंसा को सत्य से पृथक् कर दिया जाय तो वह असंभवित हो जायगा। अहिंसा सत्य में प्रतिष्ठित है, सत्य अहिंसा में नहीं। इसीलिए गान्धी ने कहा कि "मुझे ऐसा जान पड़ता है कि अहिंसा को मैं जितना पहचान सका हूँ उससे सत्य को अधिक पहचानता हूँ। मेरा यह अनुभव है कि यदि सत्य को छोड़ दूँ तो अहिंसा की कठिन गुत्थियों को मैं कदापि नहीं सुलझा सकता"[४]। इस दृष्टि से अहिंसा या तो सत्य ही है और या तो सत्य का अंग है। अन्य गुण जिनका हम वर्णन कर चुके हैं इस सत्य या अहिंसा के ही परिणाम हैं। इससे सिद्ध होता है कि गुणों की जिनमें नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक सभी गुणों का समावेश है, एक अपनी शृंखला है। उनका एक निजी निकाय है जिसका मूर्धन्य सत्य है। सभी गुणों को हम मूल्य कह सकते है क्योंकि वे व्यवहार की दृष्टि से मूल्यवान् हैं। इस तरह से भी सिद्ध होता है कि गान्धी का तत्त्ववाद महत्त्वमीमांसा या मूल्य-मीमांसा है। इस महत्त्वमीमांसा का अन्तिम सिद्धान्त या तत्त्व सत्य या ईश्वर है। अन्य वस्तुएँ यदि हैं तो वे इसी के अंग हैं। इस कारण यह अद्वैतवाद भी है।

इस अद्वैतपरक महत्त्वमीमांसा के तत्त्ववाद पर ही प्रकाश डालने वाले गान्धी के निम्नलिखित शब्द हैं--

सत्य है, असत्य नहीं है। हिंसा है अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिंसा ही होना चाहिए। यही परम धर्म है। सत्य स्वयं सिद्ध है। अहिंसा उसका

संपूर्ण फल है। सत्य में वह छिपी हुई ही है, किन्तु वह सत्य की तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किये बिना मनुष्य भले ही शास्त्र का शोध करे, उसका सत्य आखिर उसे अहिंसा ही सिखावेगी।........सत्य का साक्षात्कार करने वाले तपस्वी ने चारों ओर फैली हुई हिंसा में से अहिंसा देवी को संसार के सामने प्रकट करके कहा—हिंसा मिथ्या है, माया है. अहिंसा ही सत्य वस्तु है। अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार असंभवित है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसा के अर्थ में हैं। ये अहिंसा को सिद्ध करने वाले हैं। अहिंसा सत्य का प्राण है[6]"।

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि एकमात्र मूल्य सत्य ही है। उसका स्वयमेव महत्त्व या मूल्य है। अहिंसा उसका तटस्थ लक्षण है अर्थात् अहिंसा उससे भिन्न होकर उसका परिचय देती है। अहिंसा साधनभूत मूल्य है। अन्य मूल्य जैसे ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि अहिंसा के ही साधन हैं। इस प्रकार मूल्यों को साधन-साध्य श्रृंखला है। अन्ततोगत्वा सत्य ही एक और अद्वैत मूल्य है। तत्त्वत वही है और अन्य सभी मूल्य उसके स्वरूप के अन्तर्गत आते हैं। उनकी तात्त्विक सत्ता पृथक् नही है। मनुष्य की, हम लोगो की भी सत्ता तभी हो सकती है जब हममें ये मूल्य हों। अन्यथा हम मनुष्य न होकर पशु हैं। ये मानवोचित धर्म या मूल्य हैं। इनके अभाव में मनुष्य का पशु होना तर्कसंगत है। पशुओं का भी तभी अस्तित्व है जब उनमें पाशवोचित मूल्य हो जो अहिंसा तथा उसके निम्न रूप हैं। इसी प्रकार उसी की सत्ता हो सकती है जिसमें मूल्य हो यों कि जो मूल्य हो। वह सत्य का ही साधनभूत सत् है, अर्थात् उसकी सत्ता सत्य की ही सत्ता है। जिसमें ये मूल्य हों वह भी सत्य ही है जैसा कि सत्य के चतुर्विध अस्तित्व से ज्ञात हो चुका है।

ईश्वर सत्य है और वह सत्य या पुरुषार्थ है, यह निष्कर्ष वाले गान्धी के अनेक वचन हैं। ईश्वर का शाब्दिक अर्थ है ईशन या शासन करने वाला। चूंकि पुरुषार्थ या मूल्य मनुष्य को प्रेरित, नियंत्रित और शासित करता है, मनुष्य उसकी ही दृष्टि से प्रत्येक कर्म करता है, इसलिए सत्य को ही ईश्वर कहा जाता है। जब गान्धी ने 'ईश्वर सत्य है' को 'सत्य ईश्वर है' में बदल दिया तो वस्तुतः उन्होंने अपनी ज्ञानमीमांसा का चरम परिचय दिया। ईश्वर सत्य है, इसका अर्थ कोई यह लगा सकता है कि 'अमुक द्रव्य है'। वह अमुक द्रव्य का नाम ईश्वर समझता है। पर ईश्वर वस्तुतः द्रव्य नहीं है। सत्य-

ईश्वर है, इस वाक्य मे सत्य का अर्थ मूल्यमात्रता या अर्थवत्ता है मूल्य व्यक्ति और जगत् को नियन्त्रित करता है, शासित 'सत्य ईश्वर है, इस वाक्य का यही तात्पर्य है । 'ईश्वर सत्य है विशुद्ध तत्त्वज्ञानीय (Ontological) दृष्टि है । 'सत्य ईश्वर मे विशुद्ध मूल्य-मीमासक दृष्टि है । ईश्वर को मूल्य समझने गान्धी कहते हैं कि उसका "सबसे तादृश्य नाम सत्य है[७]" ।

यहाँ कहा जा सकता है कि जैसे ईश्वर का सबसे अधिक सत्य है, वैसे सत्य का भी सबसे अधिक तादृश्य नाम ईश्वर या परम मूल्य मे ईश्वर अर्थात् शासन करने की क्षमता नही या मूल्य ही नही हो सकता । मूल्य के लिए यह होना जरूरी आधार व्यक्ति का अन्तस्तल हो और वहाँ रहकर वह व्यक्ति स्वरूप को प्राप्त करने की प्रेरणा दे जो व्यक्ति के व्यक्तित्व से ब कारण यदि ईश्वर का रूढ़िगत अर्थ न लेकर हम वह अर्थ ले जो है तो दावे के साथ कह सकते हैं कि सत्य निरीश्वर नही हो ईश्वर होता है । जैसे मूल्यमीमासा की दृष्टि म सत् को सत्य सत् सत्य है, वैसे ही उसकी दृष्टि में सत्य को ईश्वर भी होन ईश्वर ही है । इसके बिना उसका कुछ मूल्य या महत्त्व ही नहीं हम देख सकते हैं कि 'सत् है', इस वाक्य का साक्षात् सम्बन्ध इस वाक्य से है । और फिर इसी वाक्य का वास्तविक अ जानते है जब हम कहते हैं कि सत्य सत् है । 'सत् सत्य है इ ही अर्थ लगाया जा सकता है जैसा कि 'ईश्वर सत्य वाक्य का है । 'सत्य सत् है' का सरल अर्थ यही हुआ कि स इसी सत्य के स्वरूप पर, इसकी मूल्यता पर विचार करने से हम है कि सत्य ईश्वर है ।

फिर वे कहते है कि "इस जगत् म जहाँ ईश्वर को छोड़ कर [illegible] उनके [illegible] द्वारा कुछ भी निश्चय नहीं है, वहीं निः[illegible] [illegible] मालूम पड़ता है । वह [illegible] वस्तु—[illegible] पास [illegible] रहा है और हो रहा है, अनिश्चित है, अ[illegible] है [illegible] तत्त्व निश्चित [illegible] है अपरिमित है, उसकी [illegible]

प्राप्त करने का साधन है। व्यक्ति उसी का साधक या शोधक है। साधक होने के कारण व्यक्ति का मूल्य और साधन होने के कारण जगत् का मूल्य है। मूल्य-प्रसग से पृथक् यदि व्यक्ति, जगत् और सत्य की कल्पना की जाय तो वह कपोल-कल्पना ही होगी, व्यर्थ की बकवास होगी।

सत्य का वर्णन करते हुए उन्होंने पुन कहा—"सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसे ज्यो-ज्यो सेया जाय, त्यो-त्यो उसमे अनेक फल आते दिखायी देते है। उसका अत ही नही होता। ज्यो-ज्यो उसकी गहराई मे पहुँचिए त्यों त्यो रत्न मिला करते हैं, सेवा के अवसर उपलब्ध होते हैं[3]।"

इस प्रकार सत्य को अनन्त या महत्त्व या बृहद्धर्मा अर्थात् ब्रह्म माना गया। उपनिषदो ने सत्य को इसी रूप मे लिया है।

अब स्पष्ट है कि जैसे प्लेटो के लिए यह परम तत्त्व 'श्रेय' है वैसे गान्धी के लिए भी परम तत्त्व 'सत्य' है। सत्य और श्रेय परमार्थत एकार्थक है। यदि सत्यम् और शिवम् का कोई मिलन बिन्दु न हो तो उनका महत्त्व विच्छिन्न हो जायगा।

विशुद्ध नीतिशास्त्र की दृष्टि से देखने मे दोनो मे अन्तर है क्योंकि जहाँ गान्धी 'सत्य' को परम अर्थ बतलाते है वहाँ प्लेटो शुभ या श्रेय को। प्लेटो की दृष्टि भलाई पर अधिक है तो गान्धी की भलाई और बुराई से परे महत्त्व या भूमा पर। इसीलिए गान्धी उस महत्त्व को ही सत्य कहते हैं। पर मूल्य-मीमासा की दृष्टि से दोनो का अभिप्राय एक ही है। दोनों ने अपने [illegible] 'परम अर्थ' [illegible] किया।

६ [illegible]द्वैतवाद

[illegible] शकराचार्य की भाँति [illegible] मानते है। उनके [illegible]—

[illegible] हृदि [illegible]
[illegible]

[illegible] वाले [illegible], यथा [illegible] आत्मा [illegible]।

[illegible] सेवा, ईश्वर का साक्षात्कार और आत्मदर्शन मे कोई [illegible] है [illegible] कि वे 'सत्य' को शकराचार्य के [illegible]।

अतः भारतन कुमरप्पा ने ठीक ही कहा कि "उन्होने अद्वैत के को अभ्यास मे लाने का प्रयास किया और इसलिए जाति-पाँ का भेद-भाव न करते हुए सभी मनुष्यो को एक समझा। मनु किन्तु सभी जीवित प्राणी भी गाय के प्रतीक से एक समझे जाने कारण दया तथा मैत्री से उनके साथ व्यवहार करना चाहिए[1]।"

अद्वैत-दृष्टि रखते हुए भी गान्धी ने देखा कि 'आत्मा' शब्द प्रयोग करने से लोग उसका दूसरा अर्थ लगा लेते हैं। आत्मा अर्थ परमतत्त्व है और फिर चूँकि परम अर्थ ही परमतत्त्व हो सक सत्यरूपी परम अर्थ को आत्मा या परम आत्मा कहना युक्तियुक्त दुर्भाग्य से लोक मे 'आत्मा' का अनर्थ भी प्रचलित रहता है। लोग मन बुद्धि, देह आदि को आत्मा समझ लेते हैं। इन सब भ्रमो को [illegible] लिए, विषयिनिष्ठ गुत्थी (F[illegible] P[illegible]) [illegible] मूल्यमीमांसक दृष्टि से [illegible] इसका सबसे सादृश्य नाम [illegible] नासमझी को दूर करने के [illegible]

इस प्रकार हम देखते [illegible] कि गान्धी ने स[illegible] लिया। सत्यमीमांसा शायद वर्तमान पाश्चात्य एक्सीआलोजी का भारतीय अनुवाद [illegible] मीमांसा, महत्त्वमीमांसा [illegible] उसे कह देते हैं कि हम उसको अन्य दर्शन-सम्प्रदायों [illegible] रखना चा पर हमारा यह निश्चित विचार [illegible] सत्यमीमांसा [illegible] कि कहते है, एक्सीआलोजी का [illegible] अनुवाद है। हमारा 'सत्य' शब्द [illegible] लेकर आजतक अनेक अर्थो को लेता गया है, पर उन सब अर्थों मे इतन मान्य बात है कि वे सत्य है, परम अर्थ है, परम मूल्य है, पुरुषार्थ है [illegible] के [illegible] प्रचलित भारतीय शब्द 'सत्' है, वैसे [illegible] के लिए यहाँ 'सत्य' शब्द है।

७ सत्यमीमांसा और तत्त्ववाद

सत्यमीमांसा को हम बुनियादी तत्त्ववाद भी कह सकते है क्यों सभी दर्शन-सम्प्रदायो की, सभी शास्त्रो की, मनुष्य के सभी कम बुनियाद है।

सत्य सत् का ही लक्षण होने के कारण सत् के विज्ञान या तत्त्वज्ञान की बुनियाद है। सब चीज का खण्डन हो सकता है, पर सत्य का खण्डन नहीं हो सकता है क्योंकि प्रत्येक दार्शनिक सत्यार्थी रहता है। सत्य के नाम और रूप के बारे में भले ही अनेक विचार हों, पर इस पर सभी दार्शनिकों का मतैक्य है कि सत्य की गवेषणा अवश्य होनी चाहिए।

गान्धी ने इस सत्य का व्यापक से व्यापक अर्थ किया। उनके मत में सत्य सभी शास्त्रों और मनुष्य के सकल व्यापारों का मुख्य विषय है। सभी शास्त्रों की आधारभूत मान्यता सत्य ही है। प्रत्येक शास्त्र सत्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डालता है। गान्धी ने सिर्फ सत्य को अपने दर्शन का एकमात्र विषय माना है। इससे स्पष्ट है कि वे अपने दर्शन को बुनियादी दर्शन समझते थे। उनके बुनियादी तत्त्ववाद ने तात्त्विक सत्ता सिर्फ सत्य या मूल्यानुविद्ध सत की है। इस कारण यह तत्त्ववाद उन समस्त तत्त्वज्ञानों की बुनियाद है जिनके अनुसार परम तत्त्व केवल सत् या असत् है क्योंकि, यदि सत् या असत् की खोज सत्य नहीं है तो फिर उनका वाद ही निरर्थक हो जाता है। और सत् या असत् की खोज को सत्य मान लेने पर सत्यमीमांसा को समस्त तत्त्ववादों की बुनियाद आसानी से कहा जा सकता है।

टिप्पणियाँ और सन्दर्भ

१- धर्मनीति, पृ० ११७-११८
२ भगवद्गीता १७।२६-२७
३ गीता-माता पृ० २४८
४ वही, पृ० ९१
५ आत्मकथा, पृ० ५६८
६ गीता-माता पृ० [illegible]
७ प्रार्थना प्रवचन भाग [illegible] पृ० ३[illegible]
८ आत्मकथा पृ० ११६
९ वही पृ० २७४
१० आश्रम भजनावलि।
११ हिन्दू धर्म, संपादकीय

अध्याय ६

ईश्वर

१ ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण

गान्धी की कृतियों में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने वाली प्राय: वे सभी युक्तियाँ पायी जाती हैं जिनको अधिकांश महान् दार्शनिकों ने अपने-अपने समय में दिया है। यहाँ कतिपय युक्तियों की व्याख्या की जाती है।

(१) सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति (Cosmological argument)। सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति निम्नलिखित अनुच्छेदों से स्पष्टत: व्यक्त है—

(क) "इस विश्व में जो कुछ भी है, छोटा या बड़ा, अल्पतम अणुओं को भी लेकर, वह ईश्वर से व्याप्त है। उसे स्रष्टा या ईश कहा जाता है। ईश का मतलब शासक या प्रभु है। जो स्रष्टा है वह स्वभावत: अपने इस अधिकार से ईश या शासक भी है।"

यह गान्धी द्वारा 'ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्' इस पद की व्याख्या है। ईशावास्यमिदं सर्वम् ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र का पहला चरण है। गान्धी इस मन्त्र को हिन्दू धर्म का सर्वस्व-सार समझते थे। अधिक स्पष्ट करने पर पता चलता है कि यह युक्ति यों है—

यदि जगत् है, यानि जगत् की कोई वस्तु है, यदि अणु है, तो ईश्वर अवश्य है, क्योंकि वह उसका कारण या स्रष्टा है। स्रष्टा होने के कारण वह उसका स्वामी या ईश्वर (ईश्वर का अर्थ स्वामी है) है।

(ख) गान्धी प्रातःकाल जो प्रार्थनाएँ करते थे, उनमें एक प्रार्थना है—

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय — जगत् के कारणरूप और सत्स्वरूप परमेश्वर ! तुझे नमस्कार।

नमस्ते चिते [illegible] सर्वलोकाश्रयाय = सारे विश्व के आधार हे चैतन्य ! तुझे नमस्कार।

[illegible] एकमात्र = तू ही जगत् का एकमात्र शासन करने वाला है और अपने ही स्वरूप से प्रकाशित है।

त्वमेक जगत्कर्तृ-पातृ-प्रहर्तृ = एकमात्र तू ही इस सृष्टि को पैदा करने वाला, पालने वाला और इसका संहार करने वाला है।

इन वचनों से स्पष्ट है कि यदि जगत् है तो उसका कर्ता, भर्ता और हर्ता भी है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि ईश्वर को जगत् का कारण तथा आश्रय दोनों माना गया है, अर्थात् वह निमित्तकारण तथा उपादान कारण दोनो है।

(ग) कुरान की 'अल फातिहा' भी गान्धी की प्रात कालीन प्रार्थना का अंग है। उसका मतलब हिन्दी मे बतलाते हुए एक बार गान्धी ने कहा—

"ईश्वर एक है, वह सनातन है, वह निरालम्ब है, वह अज है अद्वितीय है, वह सारी सृष्टि को पैदा करता है, उसे किसी ने पैदा नही किया है[२]।"

यहाँ यह बतलाया गया है कि संसार की सब वस्तुएँ जन्मशील हैं। यदि एक जन्मशील वस्तु की उत्पत्ति दूसरी जन्मशील वस्तु से मानी जाय, तो फिर दूसरी की तीसरी से मानी जानी चाहिए और इस प्रकार अनवस्था-दोष आ जायगा अर्थात किसी भी वस्तु के कारण की खोज अनन्त तक जायगी और फिर भी उसमे समाधान न होगा। अत मानना पड़ता है कि प्रत्येक जन्मशील वस्तु की उत्पत्ति किसी ऐसी वस्तु से होती है जो स्वय अज तथा [illegible] केवल ईश्वर ही हो सकता है। अत ईश्वर है।

[illegible] युक्ति स्पष्ट है, उन्हे गान्धी बहुमूल्य समझते थे और उनका प्रतिदिन प्रात.काल स्मरण करते थे, इससे हम कह सकते है कि सृष्टि-वैज्ञानिक युक्ति पर गान्धी जी का अटूट विश्वास था।

(ङ) [illegible] सृष्टि-वैज्ञानि[illegible] है। [illegible] मैं [illegible] मेरे मा[illegible] और [illegible] को सुरक्षित भी नहीं रख सकते। यदि वे हमको बना सकते तो व हमको सुरक्षित भी रख सकते। पर ऐसा होता नही है। अत मुझे या हमे बनाने वाला कोई महाचेतन है अर्थात् ईश्वर है।

गान्धी इस युक्ति को [illegible] करते हैं —

'[illegible] और उनके भी माँ-बाप हैं, तो यह विश्वास करना उचित जान पड़ता है कि समस्त सृष्टि का भी पिता है। यदि वह नहीं है, तो हम कहीं के नही होते[३]।"

स्पष्ट है कि गान्धी यहाँ अनवस्था दोष को बचाते
पिता के रूप में सिद्ध कर रहे हैं।

(३) नैतिक युक्ति। इसके विविध प्रकार है। कुछेक
लिखित हैं —

(क) "भगवान् है, लेकिन हमारी तरह नहीं। उसके
लिए ही जीते हैं, लेकिन भगवान् तो खुद जीवन है। इसलि
हरमानी मे, भगवान् का गुण नही है। भलाई भगवान् ह
अलग जिस भलाई की कल्पना की जाती है, वह बेजान
तभी तक टिकती है जब तक उससे हमें फायदा पहुँचता है
सदाचारो के बारे मे भी सच है। अगर उन्हे हमारे जीवन
है तो हमे यह सोचकर अपने मे उन्हे बढाना होगा कि भग
सम्बन्ध है। वे भगवान् के दिए हुए हैं। हम भले ही बनवा
हम भगवान् को पाना और उसमे मिल जाना चाहते हैं।

"दुनिया के सारे निर्जीव नैतिक सिद्धान्त बेकार है, व
अलग उनकी कोई हस्ती नही है—वे बजान हैं। भगवान् के
वे जानदार बनकर आते है। वे हमारे जीवन के अंग बन ज
ऊंचा उठाते हैं। इसके खिलाफ, भलाई के बिना भगवान् भी
अपनी झूठी कल्पनाओं मे ही उसे [illegible] बनाते है —उसमें
कोशिश कर, [illegible]"

लोकव्यवहार म कुछ-न-कुछ भलाई अवश्य रहती है। य
करती है कि ईश्वर जो इस भलाई को पूर्णतया सिद्ध करने
अवश्य है। या यो कहना चाहिए कि भलाई ही ईश्वर है।

(ख) मैं देखता हू कि मृत्यु के अभ्यन्तर जीवन रहता
अभ्यन्तर सत्य रहता है, अन्धकार के अभ्यन्तर प्रकाश रहता
निष्कर्ष निकालता हू कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है।
वह परम शुभ या निःश्रेयस है।

'किन्तु वह ईश्वर ईश्वर नहीं है जो सिर्फ बुद्धि को सन्तोष
वह ऐसा कभी करता है तो ईश्वर को ईश्वर होने के लिए हृद
करना चाहिए और इसे बदलना चाहिए। उसे अपने उपासक के
कामों मे स्वय को व्यक्त करना चाहिए। यह केवल सुनिश्चित [illegible]

ही हो सकता है जो पांच इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से कहीं अधिक वास्तविक है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष झूठे और भ्रमपूर्ण हो सकते हैं और प्रायः होते भी हैं, फिर चाहे वे हमें कितने सत्य ही क्यों न प्रतीत हों। इन्द्रियों के बाहर जहां सिद्धि है, वह अदूषणीय है। जिन्होंने अपने अन्दर ईश्वर की उपस्थिति महसूस की है, उनके रूपान्तरित चरित तथा शील में ही इसकी सिद्धि होती है, किसी अन्य बाह्य प्रमाण द्वारा नहीं।........इस सिद्धि के पहले अटल श्रद्धा होती है। जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में ईश्वर की उपस्थिति का परीक्षण करना चाहेगा, वह ऐसा सजीव श्रद्धा द्वारा कर सकता है। और चूंकि श्रद्धा को बाह्य साक्ष्य द्वारा नहीं सिद्ध किया जा सकता, अतः सबसे सुरक्षित मार्ग जगत् की नैतिक सरकार में तथा नैतिक नियम और प्रेम की प्रधानता में विश्वास करना है[५]"।

यहां वस्तुतः दो तर्क दिए गये हैं। आरम्भ और अन्त में जगत् की नैतिकता से ईश्वर की सिद्धि की गयी है और मध्य में उन नैतिक महापुरुषों के व्यवहार से ईश्वर की सिद्धि की गयी है जिन्होंने नीति के नियमों को, सत्य तथा प्रेम को, अपने जीवन में उतारने की सफल चेष्टा की है।

जगत् की नैतिकता ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी, अथवा चैतन्यवादी तथा जड़वादी, सभी को मान्य है क्योंकि इसके बिना लोकव्यवहार चल नहीं सकता है। जगत् की नैतिकता या नीतिपरायणता से व्यक्त होता है कि सत्य, प्रेम, आदि नैतिक गुणों की [illegible] है। और उन्हीं की सम्पूर्ण इकाई का नाम ईश्वर है। अतः ईश्वर है।

जब गांधी कहते हैं कि 'मेरे लिए ईश्वर सत्य तथा प्रेम हैं, ईश्वर नीति-शास्त्र है, नैतिकता है, ईश्वर अभयत्व है'[६], तो वे ईश्वर की [illegible] की [illegible] हैं।

फिर जब वे कहते हैं कि 'सत्य ही ईश्वर है। सत्य से भिन्न किसी परमेश्वर के होने का अनुभव मुझे नहीं है'[७], तो उनका यही अर्थ है।

(ग) "ईश्वर अन्तरात्मा (Conscience) है", "अन्तरात्मा ईश्वर का छोटा रूपान्तर है[८]"।

"वह (ईश्वर) हृदयरूपी वन में रहता है और उसकी बंसी है अन्तर्नाद। हमें निर्जन वन में जाने की आवश्यकता नहीं है। अपने अन्तर में हमें ईश्वर का मधुर नाद सुनना है[९]।"

गान्धी अन्तरात्मा की आवाज को ईश्वर की आवाज मानते थे। यह आवाज ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

(४) औपेयिक युक्ति (Teleological argument)। इसके अनुसार ईश्वर की सत्ता मे प्रमाण है जगत् की नियामकता या सप्रयोजनता, क्योंकि इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिए और वह कारण कोई महाचैतन्य ही हो सकता है क्योकि उसी के चिन्तन से ही विश्व की नियामकता या सप्रयोजनता सिद्ध की जा सकती है, अन्यथा नही।

गान्धी के [illegible] करते हैं —'मैं देखता हूँ कि विश्व [illegible] वस्तु तथा प्रत्येक जीव जो हैं या जो [illegible] एक अटल नियम है। यह अन्ध विधान नही है। क्योंकि जीते-जागते जीवों के आचरण को अन्ध विधान नियन्त्रित नही कर सकता हैं और सर जगदीश चन्द्र बोस की अद्‌भुत खोजों को धन्यवाद है कि अब यह सिद्ध किया जा सकता है कि भौतिक पदार्थ भी जीवधारी है। वह नियम या विधान जो सकल जीवन को नियन्त्रित करता है नियन्ता, विधाता या ईश्वर है। विधि (विधान) और विधाता दोनो एक ही हैं[१०]।"

हमारी भाषा का शब्द 'विधि' विधान और विधाता दोनो के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। विधि [illegible] करता है। [illegible] जगत् की [illegible] नियमित, [illegible] है—[illegible] कौन [illegible]

इसी प्रसग मे गान्धी [illegible]—

'[illegible] और [illegible] करती है[११]।'

५। तत्त्वमीमांसिक युक्ति (Ontological argument)। [illegible] गान्धी के निम्नलिखित अनुच्छेदों मे स्पष्टतया व्यक्त होता है—

'[illegible]। सत्य' शब्द का अर्थ है [illegible] होता है वह जो है [illegible]। [illegible] कारण [illegible] हो [illegible] कारणों से जिसको [illegible] मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सत्य ईश्वर है यह परिभाषा ([illegible] की परिभाषा) मुझे अविवादित सतोष देती है[१२]।

गान्धी सत्य को पुरुषार्थ (Value) मानते हैं और इसी को वे ईश्वर भी कहते हैं। जब वे कहते हैं कि सत्य का शब्दतः ही अर्थ सत होता है तो उनका अभिप्राय है कि परम पुरुषार्थ या ईश्वर सत् है। 'पुरुषार्थ' का प्रत्यय ही बतलाता है कि पुरुषार्थ सत् है। 'सत्ता' सत्य-रूपी ईश्वर की ग्राहिका है।

(ख) गान्धी पहले 'ईश्वर सत्य है' ऐसा कहा करते थे। बाद को अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने इसे 'सत्य ईश्वर है' इस परिभाषा में बदल दिया। इस परिवर्तन का दार्शनिक महत्त्व है। स्वयं गान्धी ने कहा—

"ईश्वर का प्रत्याख्यान (निराकरण) हम जानते हैं। सत्य का निराकरण हम नहीं जानते। मनुष्यों में जो सबसे अधिक अज्ञानी हैं वे भी कुछ-न-कुछ सत्य के परिग्रही हैं। हम सभी सत्य की चिनगारी हैं। इन चिनगारियों का महायोग अवर्णनीय है, वह अद्यावधि अज्ञात सत्य है, वही ईश्वर है[१३]।"

और

"सत्य का अर्थ है सत्ता, उसकी सत्ता जिसे हम जानते हैं और उसकी सत्ता जिसको हम जानते नहीं हैं। सकल सत्ता का महायोग निरपेक्ष सत्य है।.........सत्य के विचार (प्रत्यय) विभिन्न हो सकते हैं। पर सभी सत्य को स्वीकार करते हैं और सत्य का आदर करते हैं। उसी सत्य को मैं ईश्वर कहता हूँ[१४]।"

यहाँ स्पष्ट है कि गान्धी सत्य को अप्रत्याख्येय सिद्ध कर रहे हैं। सभी प्रत्याख्यानों में जो सर्वगत सदा विद्यमान सत्ता रहती है वही सत्य है। सत्ता-मात्र का खण्डन असंभव है। अतः सत्य का भी खण्डन असंभव है। फिर सत्य ईश्वर है, इस कारण ईश्वर का भी खण्डन असंभव है।

[illegible] ने इस प्रसंग में ठीक ही कहा कि [illegible] नहीं [illegible] कि ईश्वर ही सत्य है। जब कहा जाता है कि 'वही सत्य ईश्वर है' तो यह [illegible] हो जाता है और [illegible] का [illegible] हो जाता है। [illegible] रूप है[१५]।

(ग) प्रतिगोचरमय निगमन (Transcendental Deduction)। जैसे कांट प्रवर्गों का प्रतिगोचरमय निगमन करता है वैसे गान्धी सत्य या ईश्वर को भी प्रतिगोचरमय निगमन द्वारा सिद्ध करते हैं। इसके उदाहरण यों हैं :—

(क) "मैं अस्पष्टतया देखता हूं कि जहाँ मेरे चारों तरफ प्रत्येक वस्तु सदा परिवर्तनशील है, मर्त्य है, वहाँ उस सकल परिवर्तन के अन्तराल

में एक जीती-जागती शक्ति है जो बदलती नहीं है, जो सबको एक साथ पकड़े हुए है, जो रचना करती है, नाश करती है और पुनः निर्माण करती है। वह सर्वान्तर निर्मात्री शक्ति या आत्मा ईश्वर है। और चूँकि अन्य कोई वस्तु जिसे मैं इन्द्रियों से देखता हूँ सदा रह नहीं सकती या रहेगी नहीं, अतः वही अकेला है[१६]।"

यहाँ रचना करना, नाश करना और पुनः निर्माण करना लगता है वाद (thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis) के रूप में सोचे गये हैं। सब को उत्पन्न करने वाला, सदा वर्तमान, स्वरूप और एकरूप रहने वाला सर्वान्तर ईश्वर ही है। मार्मिक विचार करने पर पता चलता है कि गान्धी पिण्ड तथा ब्रह्मांड सब को ईश्वर-केन्द्रीय मानते थे। वे ईश्वर को सर्वत्र अन्तर्यामी मानते थे। इस दृष्टि से शेष सभी युक्तियाँ प्रतिगोचरमय-निगमन पर निर्भर प्रतीत होती हैं या इसी के परिणाम-स्वरूप लगती हैं। मानवी बुद्धि जो स्वयं ईश्वर पर निर्भर है कैसे अपने आधार को आधेय बनाकर सिद्ध कर सकती है? वह केवल यही दिखा सकती है कि उसका आधार, सकल वस्तुओं का आधार ईश्वर है।

(ख) 'सत्य स्वयसिद्ध है[१७]।' "एक ऐसी अलक्षण गुह्य शक्ति है जो सब में व्याप्त है। मैं इसे अनुभव करता हूँ, हालांकि मैं इसे देखता नहीं हूँ। यह अदृश्य शक्ति है जो अपने को अनुभूत कराती है और फिर भी सभी प्रमाणों को तिरस्कृत करती है क्योंकि मैं जो कुछ भी इन्द्रियों से देखता हूँ, वह उन सबसे असमान है। वह इन्द्रियों से अगोचर है[१८]।"

स्पष्ट है कि जब गान्धी ऐसा कहते हैं तो वे ईश्वर को गोचर और अगोचर न कहते हुए प्रतिगोचर कह रहे हैं अर्थात् वह जिस पर गोचर आधारित हैं। यहाँ प्रतिगोचरमय निगमन ही है।

(ग) गान्धी सत्य-दर्शन, ईश्वर-दर्शन और आत्म-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार में कोई अन्तर नहीं करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे सत्य को, ईश्वर को, आत्मा-रूप में लेते हैं। गान्धी के इनसे संबन्धित कथनों में वस्तुतः ईश्वर का प्रतिगोचरमय निगमन मिलता है। किशोरलाल मशरूवाला ने तो स्पष्ट कहा कि ईश्वर प्रत्येक प्राणी का परम अहम् है[१९]।

(घ) मूल्यमीमांसक युक्ति (Axiological Argument)। जैसे, कभी गान्धी [illegible] सत्य या [illegible] बतलाते हैं अर्थात् अस्तित्व को आधार

और पुरुषार्थ को उसका आधेय कहलाते हैं, वैसे कभी-कभी वे पुरुषार्थ को आधार तथा सत्ता या अस्तित्व को आधेय कहते हैं। उदाहरण के लिए उनके ये शब्द लीजिए—

"खुदा है, अल्लाह है, ईश्वर है, राम है, उसे याद करने के लिए ऐसे मौके हैं। वह हमको मदद देता ही है। वह हमें थोड़े पूछने वाला है कि हम उसको पहचानते है या नहीं। वह हमारे हाथो मे नहीं आता, उसे आँखों से नहीं देख सकते, कानों से नही सुन सकते हैं, इसलिए वे कहते हैं कि इन्द्रियों से बाहर पड़ा है। ऐसी एक वह हस्ती है, दूसरे सब नास्ति हैं। हम सब नास्ति हैं। हम कहे जब हम जिंदा रहते हैं तो नास्ति कैसे हो सकते हैं? आजतक तो मै जिंदा रहा, लेकिन कल के लिए मुझे कोई नही बता सकता कि रहूँगा या नहीं। ऐसे ही, कल-कल करके ७८ वर्ष निकाल दिए। और भी शायद दो-चार दिन निकाल दूं या वर्ष निकाल दूं। लेकिन हम क्या जान, मैं कैसे कह सकता हूँ कि कोई आदमी अभी जिंदा है तो वह एक मिनट बाद भी जिन्दा रहेगा या नहीं। कोई नहीं कह सकता। इसलिए मैं कहता हूँ कि हम तो नास्ति हैं, जिसका कोई ठिकाना नहीं। हमेशा के लिए नहीं रह सकते। अस्ति वह तो एक ही हो सकता है। हस्ती शब्द अस्ति से निकला है। अस्ति के माने हैं 'आदि है, अनादि है, और आयंदा रहेगा।' ऐसा हमेशा रहने वाला 'अस्ति' है, जिसने हमको बनाया है और जो हमको बिगाड़ सकता है, यहाँ से उठा सकता है। मेरे नजदीक तो वह बिगाड़ता नहीं, हमको बनाता ही है। इसलिए अगर हम मानें कि वह नहीं मिल सकता, और बिगाड़े तो वह मुश्किल होगी। लेकिन वह तो है और सब कुछ कर सकता है। वह रहीम है और उसके लिए सब एक है। वह किसी को बिगाड़ेगा नहीं, न किसी को मारेगा, न किसी को गाली देगा। वही उसका कानून है[२०]।"

यहाँ यह दिखलाया गया है कि अस्तित्व उसी का हो सकता है जिसे हमेशा रहना चाहिए, जो आदि, मध्य और अवसान में एकरूप रहता हुआ भी सदा के लिए वैसा ही आदर्श बना हुआ है, और जो सब को मदद करता है, या इसी को दूसरे शब्दों मे कहें तो कह सकते है कि जिसको पाने से दूसरे अस्तित्व पाते हैं और जिसकी ओर दूसरे बढ़ रहे हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पुरुषार्थ या मूल्य पर अस्तित्व टिका हुआ है। घटना या वस्तु से बिलकुल भिन्न पुरुषार्थ का अस्तित्व होता है। यहाँ घटना या वस्तु को नास्ति

इसीलिए कहा गया है कि अस्तित्व का प्रयोग सिर्फ परम पुरुषार्थ या ईश्वर की [illegible] किया गया।

मूल्यमीमांसक युक्ति को और स्पष्ट करने वाले गान्धी के निम्नलिखित शब्द हैं—

"सम्पूर्ण सत्य को यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्या बात थी ? तब तो हम परमेश्वर हो गये होते क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उसका आग्रह करते हैं। इसी से पुरुषार्थ की गुंजाइश है[२१]।"

चूँकि उन्होंने सेवा द्वारा कार्य-क्षेत्र में ही ईश्वर का दर्शन करने की शिक्षा दी और सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों के मानने वाले गोरा-जैसे निरीश्वरवादियों को भी नैतिक सहयोग देते हुए कहा कि अगर तुम इन मूल्यों को मानते हो तो वस्तुतः तुम ईश्वर को मानते हो। इसलिए कहा जा सकता है कि इन मूल्यों का बोध ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण है।

(ड) शब्द प्रमाण (Authoritarian Argument) : यह प्रमाण भी गान्धी का [illegible] है। वे कहते हैं—

'[illegible] वेद का [illegible] इतना ही है कि ईश्वर है और [illegible] है। कुरान और बाइबिल का [illegible] निचोड़ है। [illegible] भगवान [illegible]। वहाँ भी भगवान [illegible]।'

गान्धी ने [illegible] और [illegible] के [illegible] अध्ययन किया और उनको उन सब में इस बात की [illegible] मिली कि ईश्वर [illegible] है और [illegible] मानव [illegible]।

(च) ऐतिहासिक साक्ष्य : ईश्वर के प्रमाण के लिए [illegible] भी [illegible] है। उनका कहना है कि ईश्वर का प्रमाण [illegible] और [illegible] के [illegible] से मिलता है। [illegible] इन प्रमाणों को न मानना अपने को न मानना है [illegible] कि [illegible] ऐतिहासिक परम्परा [illegible] नहीं है और [illegible] अनुभवों को भी नहीं [illegible] और [illegible] को [illegible] तब [illegible] नहीं हो जाता है ?

[illegible]

भी अनुभव बहुत कुछ वैसा ही था। यह सोचना मूर्खता है कि अनादिकाल से जो असंख्य लोग ईश्वर को अनुभव करते आ रहे हैं, वे अज्ञानी थे और सबमें ज्ञानी हम हैं जो कहते हैं कि ईश्वर नहीं है।

(१०) व्यावहारिक युक्ति। गान्धी व्यावहारिक अधिक थे। वे किसी सिद्धान्त तथा विचार-धारा को उसके फल के अनुसार जाँचते थे। यदि उसका फल ठीक है तब वह ठीक है, अन्यथा वह गलत है।

ईश्वर है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर गान्धी ने अपने व्यवहार से दिया। 'ईश्वर है' ऐसा मानकर वे चले और उनके प्रत्येक कार्यकलाप का आधारसूत्र यही था। अपने सिद्धान्त से उनको काफी सफलता मिली। इससे ईश्वर में उनका दिन-दिन विश्वास बढ़ता गया।

जब उन्होंने देखा कि कुछ अनीश्वरवादियों को भी अपनी विचारधारा मे वास्तविक निष्ठा रहती है और उन्हें अपने कार्य मे सफलता मिलती है तो उन्होंने 'ईश्वर सत्य है' कहने के बजाय 'सत्य ईश्वर है' कहना शुरू किया। हम प्रायः शब्दों पर झगडा करते हैं। ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी 'ईश्वर' शब्द पर ही प्रायः झगड़ा करते हैं। स्वतन्त्रता या सत्यता या प्रेम सभी को मान्य है। अगर इसको ईश्वर कहा जाय तो फिर कोई अनीश्वरवादी नही रह सकता। यहाँ कुछ लोग कह सकते हैं कि ईश्वरवादी स्वतन्त्रता, सत्यता या प्रेम को स्वनिष्ठ या स्वयमेव कुछ मानते है जब कि अनीश्वरवादी इसको किसी व्यक्ति का गुण या भाव ही मानते हैं। किन्तु यदि हम विचारपूर्वक देखें तो पता चलेगा कि यह विवाद भी निर्मूल है। जो अनीश्वरवादी सत्य या स्वतन्त्रता या प्रेम को व्यक्ति का गुण या भाव मानते है, व इसको यहीं तक सीमित नहीं रखते। वे इसको सामाजिक भी मानते हैं अर्थात् अन्तर-वैयक्तिक (Inter-individualistic या Intersubjective) मानते हैं। जब इन्हें अन्तर-वैयक्तिक या समष्टिगत मान लिया गया तो इतने पर ही विराम नहीं हो जाता। वे लोग इनको आदर्श मानकर इनकी प्राप्ति के लिए यत्न करते और करवाते है। अर्थात् वे इन्हे पुरुषार्थ या मूल्य मानते है। इस प्रकार मानने से वे मूल्य या पुरुषार्थ को वस्तुओं या जीवों के अस्तित्व से अधिक महत्त्व देते हे। इस प्रकार ईश्वरवादी को हम विचारपूर्वक देखें तो पता चलता है कि वह भी ईश्वर को पुरुषार्थ-रूप में मानता है। गान्धी इसके प्रमाण हैं।

अतः ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों को जब व्यवहार मे सफलता

मिलती है तो इसका बहुत कुछ कारण दोनों का पुरुषार्थ के लिए है। इसलिए पुरुषार्थ का अस्तित्व व्यवहार से सिद्ध होता है।

वस्तुत: व्यावहारिक युक्ति मूल्यमीमांसक युक्ति का ही एक

(११) अस्तित्ववादार्शनिक युक्ति (Existential-ph Argument)। पश्चिम में इस समय अस्तित्व-दर्शन (Existen sophy या Existence Philosophy) ने ईश्वर के प्रत्यय पर डालते हुए नया तर्क पेश किया है। यास्पर्स और मार्सेल इसके गान्धी ने भी इस दृष्टिकोण से भी ईश्वर के प्रत्यय पर विचार अस्तित्वनिष्ठ युक्तियाँ दी हैं। इस प्रसंग में कई दृष्टियाँ हैं। कुछ पण यहाँ किया जाता है।

(क) "बुद्धि ईश्वर को जानने में शक्तिहीन है। वह बुद्धि बाहर है। किन्तु मुझे इसको विशद करने की आवश्यकता नहीं (faith) इस प्रसंग में आवश्यक है। मेरा तर्क अनगिनत प्रमेय बिगाड़ सकता है। कोई अनीश्वरवादी मुझे वाद-विवाद में पराजित है। किन्तु मेरी श्रद्धा मेरी बुद्धि से तीव्रतर है और इस कारण मैं स को ललकार कर कह सकता हूं कि ईश्वर है, ईश्वर था और रहेगा[४]।"

और

"जिन वस्तुओं को बुद्धि नहीं जान सकती है उनमें श्रद्धा विश्वास करता हूँ, उदाहरण के लिए, ईश्वर का अस्तित्व है। को इस श्रद्धा से विचलित नहीं कर सकता और उस छोटी लड़की के सभी तर्कों के खिलाफ "हम सात हैं"* को मान रही थी, यद्यपि

---

* "We are Seven" (हम सात हैं), इस शीर्षक की वर्ड्सवर्थ की एक प्रसिद्ध कविता है। उसकी कथा यों है—कवि को की एक ग्राम-बालिका मिली। उन्होंने उससे पूछा— "बाले ? तुम कि बहिन हो ?" बालिका ने उत्तर दिया "सात"। इस पर कवि ने "वे सब कहाँ हैं ?" उसने कहा—"हम सात हैं। दो कानवे में रह समुद्र को गये हैं। दो, एक भाई और एक बहिन, कब्र में रहते हैं बालिका को समझाता है कि यदि दो कब्र में रहते हैं तो तुम पाँच ही हैं, न कि सात। पर मृत्यु से अपरिचित बालिका कहती है कि व

। आऊं तो भी यह दुहराना पसंद करूँगा कि 'फिर भी

वस्तुएँ हैं जिनका विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। जिस-
श्रण मेरी अल्प बुद्धि करती है, वह मुझे संतोष नहीं दे सकता।
नका विश्लेषण नहीं करता हूं। मैं सापेक्ष वस्तुओं के पीछे
जाता हूं और मुझे तब मनः शान्ति मिलती है[२६]।"

मुझे अन्धविश्वासी समझते हैं? मैं अनीश्वरवादी से-

। से स्पष्ट है कि गान्धी स्वाभाविक या नैसर्गिक श्रद्धा से
करते हैं। यह श्रद्धा तर्क-निम्न न होकर तर्कोर्ध्व है। इसकी
। संभव है। यह दार्शनिक श्रद्धा है। इससे व्यक्ति अपना
जोड़ता है। यह अनन्त, अलक्षण और अचिन्त्य है। यही

है और वहाँ उनके साथ खेलती हैं। तात्पर्य यह कि मृत्यु
र नहीं करती। यदि प्रेम की दृष्टि से देखा जाय, तो बालिका
ई-बहिन है यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से वह पाँच ही भाई-
भाई और बहिन के साथ भी उसका प्रेम इतना सजीव है कि
समझती है।

स के साथ बालिका कहती है कि वह सात भाई-बहिन हैं,
साथ गान्धी भी अपना सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे।
भले ही दूसरों की दृष्टि में अयथार्थ हो पर उनकी दृष्टि-से
न था कि सात भाई-बहिनों के प्रति बालिका का
की कविता की अन्तिम पंक्तियां [illegible] की विजय,
का की दृढ़ता का संकेत करती हैं :—

they are dead, those two are dead !
ır spirits are in heaven !"
vas throwing words away, for still !
little maid would have her will
l said "Nay, we are seven."

संबन्ध सच्चा व्यक्तित्व है और यह स्पष्टतः ईश्वर को सिद्ध करता है क्योंकि उसके अभाव मे यह संबन्ध हो नही सकता है। यहाँ यह न समझना चाहिए कि ईश्वर और व्यक्ति को अलग-अलग मानकर दोनों मे संबन्ध देखा गया। नही, नैसर्गिक श्रद्धा एक तथ्य है। यह एक संबन्ध है। यह सीमित और असीम को सिद्ध करती है। यही श्रद्धा व्यक्ति का व्यक्तित्व और ईश्वर का ईश्वरत्व सिद्ध करती है। यही बतलाती है कि व्यक्तित्व इस कारण सत् है कि उसमें ईश्वरत्व है, वह ईश्वरत्व पर प्रतिष्ठित है या वह ईश्वरत्व की ओर झुका हुआ है।

इस प्रकार नैसर्गिक श्रद्धा से अचिन्त्य सत्-रूपी ईश्वर को सिद्ध करते समय गान्धी हमें यास्पर्स का स्मरण कराते हैं या और दूसरा उदाहरण दें तो अलबर्ट स्वाइत्जर की याद कराते हैं।

पुनश्च यास्पर्स की ही भाँति वे कहते हैं—

"हम पर और सन्देहवादियों पर शासन करने वाली कोई वस्तु है जो बुद्धि से अनन्त गुना ऊँची है। उनका सदेहवाद और दर्शन उन्हें जीवन के संकटःक्षणो मे मदद नही करता। उन्हे किसी बेहतर चीज की, उनसे बाहर किसी चीज की, जरूरत पड़ती है जो उन्हें कायम रख सकती है। अगर ऐसी ही कोई मेरे सामने समस्या रखे तो मैं उससे कहूगा कि तुम ईश्वर या प्रार्थना का मतलब तब तक नही जान सकते हो जब तक कि अपने को शून्यवत् न बना लो। तुम्हें इतना नम्र होना है कि महसूस करो कि बुद्धि की विशालता और महानता के भी बावजूद तुम इस विश्व में महज एक कण हो। जीवन की वस्तुओ का केवल बौद्धिक प्रत्ययन पर्याप्त नहीं है। आध्यात्मिक प्रत्ययन बुद्धि से परे है और वही संतोष दे सकता है। धनी-मानी लोग भी संकट-क्षणो का अपने जीवन में अनुभव करते हैं। हालांकि वे धन-दौलत से घिरे रहते हैं और उन चीजों से भी घिरे रहते हैं जो धन-दौलत से खरीदी जा सकती हैं लेकिन फिर भी वे अपने जीवन के कतिपय क्षणों में रहने में अपने को पूर्णतया निराश और हतोत्साह पाते हैं। ये ही वे क्षण हैं जिनमें हमें ईश्वर की झाकी मिलती है, हम उसका दर्शन करते हैं जो जीवन में हमारे हर कदम को चला रहा है। यही प्रार्थना है[६]।"

यहाँ अस्तित्ववादार्शनिकों की तरह गान्धी ने संकटापन्न क्षणों की अनुभूति को प्रार्थना अर्थात् ईश्वर को सिद्ध करने वाली कहा है।

(ख) मार्सेल की तरह गान्धी रहस्य (Mystery) की लौकिक व्याख्या करते हैं। जब वे कहते हैं कि ईश्वर गुह्य शक्ति है, एक रहस्य है, तो उनका अभिप्राय यह नही है कि हम उसको समझ नही सकते या हम उसको पा नही सकते। वे सिर्फ यह कहना चाहते है कि ईश्वर एक गुप्त शक्ति है, जो बुद्धि से छिपी रहती है पर हृदय को खोलने पर वह हृदय में मिल जाती है।

इस तरह गान्धी की गुह्य शक्ति अलौकिक नहीं है। फिर वह बौद्धिक भी नहीं है। वह यत्न-साध्य है, हृदय द्वारा लभ्य है। इस कारण वह पूर्ण लौकिक है। इसमें कोई रहस्यवाद नही है।

प्रथम आरंभिक चिंतन मे ईश्वर हमे समस्या लगता है, प्रमेय लगता है। द्वितीय चिंतन मे अर्थात् दुबारा चिंतन मे वह हमें गुह्य (Mystery) लगता है। उसका साक्षात् संबंध हमसे लगता है। यह संबंध मौलिक लगता है, इसका किसी में अन्तर्भाव असंभव है।

गान्धी ने अपनी इस गुह्य शक्ति का यों वर्णन किया है—

"सच बात तो यह है कि ईश्वर एक शक्ति है, तत्त्व है, शुद्ध चैतन्य है, सब जगह मौजूद है। मगर हैरानी की बात यह है कि ऐसा होते हुए भी सबको उसका सहारा या फायदा नही मिलता, या यों कहें कि सब उसका सहारा पा नही सकते।

"बिजली एक बड़ी शक्ति है। मगर सब उससे फायदा नही उठा सकते। उसे पैदा करने का अटल कानून है। उसके अनुसार काम किया जाय तभी बिजली पैदा की जा सकती है। बिजली जड़ है, बेजान चीज है। उसके इस्तेमाल का फायदा चेतन मनुष्य मेहनत करके जान सकता है। जिस चेतनामय बड़ी भारी शक्ति को हम ईश्वर कहते हैं, उसके प्रयोग का भी नियम तो है ही। लेकिन यह चीज बिलकुल साफ है कि उस नियम को ढूंढने के लिए बहुत ज्यादा परिश्रम की जरूरत है। उस नियम का नाम है ब्रह्मचर्य[२८]।"

ब्रह्मचर्य से सभी मनुष्य ईश्वर को सिद्ध कर सकते हैं अर्थात् पा सकते हैं—यह गान्धी का अटल सिद्धान्त है। अतः यद्यपि ईश्वर परम गुह्य है, तथापि वह सर्वसुलभ है। गान्धी सदा मानते रहे कि "जो एक के लिए शक्य है, वह सब के लिए शक्य है[३०]।"

(ग) अस्तित्ववादी सार्त्रे की भांति गान्धी बलिदान में, दुःख में, धीरज मे अपने अस्तित्व को सम्पन्न पाते हैं और यद्यपि सार्त्रे अनीश्वरवादी है तथापि गान्धी इस प्रक्रिया द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

"वह (ईश्वर) बहुत दीर्घकालीन सहनशीलता है। वह धीर है पर भयंकर भी। वह मौजूदा संसार मे और आने वाले संसार मे भी सबसे अधिक ताडना देने वाला है[३१]।"

और

"मैं ईश्वर को दीर्घकालीन दुःख तथा धीरता कहता हू क्योकि वह ससार मे बुराइयो को स्वीकार कर लेता है। मै जानता हूँ कि उसमे बुराई नही है। वह इसका प्रणेता है और फिर भी इससे अछूता है[३२]।"

गान्धी जब कहते हैं कि "ईश्वर स्वय निश्चय की, व्रत की संपूर्ण मूर्ति है[३३]", "जो तीनो कालो मे सपूर्ण रूप से महाव्रतो का पालन करने मे समर्थ है, उसे इस जगत् मे कुछ भी करने को नही है। वह भगवान् है, वह मुक्त है"[३४], तो उनका अभिप्राय यह दिखलाना है कि अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के पालन करने मे हमें जो कष्ट होता है, उससे कहीं अधिक कष्ट उसको हो सकता है जो इन व्रतो को सदा आदर्श रूप से पालता है। परन्तु चूँकि ईश्वर सिर्फ व्रतो के आदर्श का पालन करने वाले प्राणी ही का दूसरा नाम है, हम उससे अपने जीवन मे शिक्षा लेते हैं और व्रतों के पालन मे जो कष्ट होता है उसे सुख मे बदल देते हैं। आखिर मे यह जान जाता है कि व्रतो के पालन मे कष्ट नही बल्कि आनन्द है। तथाकथित कष्ट ईश्वर का अस्तित्व है, हमारा भी अस्तित्व है अतः वह कष्ट नही है वह आनन्द है। व्रतो का पालन अस्तित्व है।

[illegible] से गरीबो में जीवन बिताना, प्रकट होना और व्रतो का पालन करना ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इन अवसरों पर ईश्वर की झांकी मिलती है।

"यदि अपने मन्तव्यों द्वारा ईश्वर प्रमाणों का प्रमेय बन गया होता तो वह ईश्वर न रहता"[३५]। ईश्वर प्रमेय नही है। वह सभी प्रमाणो का प्रमाता है।

इसीलिए गान्धी के मत को स्पष्ट करते हुए किशोरलाल मशरूवाला ने कहा कि ईश्वर के अस्तित्व या नास्तित्व का व्याख्यान करने के पूर्व हमे दो भूलों को बचाना चाहिए। पहली यह कि प्रश्नकर्त्ता अपने समझने के पूर्व ईश्वर को समझने की कोशिश करता है। जब तक कोई अपने अस्तित्व को अच्छी तरह से न समझे, न सिद्ध करे, न जाने, तब तक ईश्वर के प्रति

उसकी समस्त ऊहाएं व्यर्थ हैं ।........जैसे-जैसे अपने अस्तित्व की, आत्मा के अस्तित्व की समझ बढती हैं, वैसे-वैसे ईश्वर के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदलता जाता है। अतः जो ईश्वर के विषय में स्पष्ट ज्ञान रखना चाहता है उसे सर्वप्रथम अपने अस्तित्व के स्वभाव के विषय में स्पष्ट ज्ञान रखना चाहिए।...... दूसरी भूल पहली भूल से, आत्मा की नासमझी से, उत्पन्न होती है। दूसरी भूल है ईश्वर को प्रमेय या अप्रमेय समझ लेना [३६]।" चूँकि स्वयं आत्मा न प्रमेय है न अप्रमेय, न विषय है और न अज्ञेय, इस कारण ईश्वर भी ऐसा नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्य या ज्ञान-स्वरूप है, तो ईश्वर भी ऐसा ही है। ईश्वर की सिद्धि इस प्रकार आत्मज्ञान रखने वाले ही कर सकते हैं।

(१२) रहस्यवादी युक्तियाँ। कुछ लोग गान्धी को रहस्यवादी संत मानते हैं। रहस्यवादी मुख्यतः हम उन लोगों को कहते हैं जिन्होंने ईश्वर का साक्षात् दर्शन कर लिया हो और जो दूसरो को भी ईश्वर का साक्षात दर्शन करा सकें। यदि दर्शन करा सकने वाला गुण उनमें न हो तो कम से कम ईश्वर का साक्षात् दर्शन करने वाला गुण अवश्य होना चाहिए। उनका इस प्रकार का दर्शन ईश्वर को सिद्ध करता है।

गान्धी ने अपनी आत्मकथा में ऐसे दर्शन को संभव बतलाया है, पर यह कबूल किया है कि उन्हें ऐसा दर्शन हुआ नहीं है। वे सदैव यह मानते रहे कि "ईश्वर को आँखों से प्रत्यक्ष देखने में और उसे बड़ी दूर से सत्य के रूप में जीता-जागता देखने में बहुत बड़ा अन्तर है[३७]।" ईश्वर को प्रत्यक्ष देखने वाले रहस्यवादी कहे जाते हैं, ईश्वर को सत्य के रूप में दूर से देखने वाले दार्शनिक कहे जाते हैं। इस प्रकार हम गान्धी को रहस्यवादी नहीं कह सकते। यदि हम उनको किसी अर्थ में रहस्यवादी कहना चाहें तो इस दूसरे अर्थ में कह सकते हैं कि वे रहस्यवादी प्रत्यक्ष को संभव मानते हैं। वे रहस्यवाद के साथ साधारण प्रत्यक्ष का विरोध नहीं देखते, वे रहस्यवाद को साधारण प्रत्यक्ष की पूर्णावस्था मानते हैं और अन्त में यह भी कहते है कि यदि प्रयत्न किया जाय, यदि साधना की जाय तो रहस्यवादी प्रत्यक्ष मिल सकता है। इस प्रकार उनका रहस्यवाद केवल संभाव्य-रहस्यवाद है, यथार्थ या ठेठ नहीं।

उनकी भजनावलि में रहस्यवादी सन्तों की अनेक अनुभूतियाँ हैं जो ईश्वर को सिद्ध करती हैं। गान्धी उनको अपनी अनुभूति नहीं बताते। वे सिर्फ

उनको अपने से अधिक साधकों द्वारा अनुभूत मानते हैं और अपने लिए भी यत्न करने पर साध्य समझते हैं।

ठेठ रहस्यवाद से भिन्न एक प्रकार का रहस्यवाद सामान्यतः प्रचलित है जो मानता है कि ईश्वर भक्तों की सहायता करता है, वह रहनुमा और हकीम है, उसका नाम लेने से उसकी प्राप्ति होती है। गान्धी इस प्रचलित रहस्यवाद को मानते हैं। उनका निजी अनुभव है कि ईश्वर उनकी मदद करता है, उनको राह दिखाता है और उनको रोगों से अच्छा करता है। ईश्वर प्रार्थनाओं को सुनता है और उत्तर देता है, कभी-कभी बिना प्रार्थना किए जाने पर भी वह साक्षात् मदद कर देता है। उसके जप के विषय में उनका कहना है कि "बात यह है कि ईश्वर सदा सर्वत्र है, हम उसे केवल अनुभूत नहीं हैं। उसके नाम का जप हमें अपनी निद्रा-अज्ञान से जगाता है बिजली की तरह अमोघ काम करता है, और तुरन्त हमारे बीच ईश्वर की अनुपस्थिति को अनुभूत करा देता है[१८]।"

स्वयं गान्धी के जीवन में ऐसे क्षण आये हैं जब उन्हें ईश्वर से मदद मिली है। इस मदद से वे ईश्वर को सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि यह मदद किसी अन्य साधन द्वारा नहीं हो सकती। यह संयोग भी नहीं है। फिर गान्धी अपनी धारणाओं को ईश्वर का सलाप बतलाते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर ने उनको बताया है।

क्या ईश्वर के ये प्रमाण विश्वसनीय हैं? गान्धी इन पर अटूट विश्वास करते हैं।

यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो ईश्वर को मददगार, रहनुमा और हकीम मानना रहस्यवादी धारणा नहीं है बल्कि बहुत कुछ ईश्वर के प्रत्यय या अर्थ पर निर्भर है। गान्धी नैसर्गिक चिकित्सा को ईश्वरीय नियम मानते हैं। उनके विचार में ईश्वर स्वास्थ्य है, जीवन है, नैसर्गिक चिकित्सा है। जब वे ऐसा कहते हैं तो उनका अभिप्राय यह है कि ईश्वर अर्थ या मूल्य है। ईश्वर को पथ-प्रदर्शक या रहनुमा कहने का भी यही अभिप्राय है। चूंकि गान्धी समस्त समाज की धारणा मूल्यों या अर्थों के रूप में करते हैं और उन मूल्यों या अर्थों की मान्यता या अर्चना को ईश्वर मानते हैं, इस कारण उनकी धारणा है कि मदद या पथप्रदर्शन ईश्वर से मिलता है।

गान्धी ने इस प्रसंग में अपने मत को स्पष्ट कर दिया है कि जिस ईश्वर

मे विश्वास नही है, जो ईश्वर के लिए अपने को बलिदान नहीं कर सकता, जो ईश्वर की रहनुमाई, हकीमी या मदद मे तनिक भी शंका करता है, उसे प्रार्थना, जप, आदि मे कोई लाभ नही हो सकता। उसे ईश्वर मदद कर नहीं सकता। अतः हमारा मत है कि गान्धी की उक्त धारणाएँ प्रचलित रहस्यवाद की धारणाएँ नही है। वे गान्धी के संकल्प, व्रत और निश्चय का परिचय देती हैं। वे यह बतलाती हैं कि गान्धी ने ईश्वर को कितना व्यापक मूल्य समझ रखा था।

परन्तु हमारा मत है कि बिना ठेठ रहस्यवाद के किसी प्रकार का भी रहस्यवाद प्राप्य नही है। जब ठेठ रहस्यवाद को गान्धी महज संभव रहस्यवाद कह कर समाप्त कर देते है, तो उन्हे किसी अर्थ मे रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता है। रोगी को अच्छा करने के लिए ईश्वर को स्मरण करना वस्तुतः यह बतलाता है कि रोगी को अच्छा करने की नैसर्गिक सर्वसुलभ विधि कौन है और वह स्वयमेव मूल्यवान् है। मूल्य के स्वरूप को समझ लेने पर कोई कह नही सकता कि गान्धी ने ईश्वर को मददगार, हकीम और रहनुमा समझने मे गलती की क्योंकि मददगार, हकीम और रहनुमा चाहे जो कोई हो उसमें मदद, हकीमी और रहनुमाई होना जरूरी है और ये उसी तक सीमित न होकर स्वयमेव मूल्य है। इनकी मूल्यवत्ता के स्वरूप को ईश्वर मान लेने से कौन कह सकता है कि गान्धी की उक्त धारणाएँ रहस्यवादी हैं? फिर यदि वे रहस्यवादी हैं तो उनका रहस्यवाद तर्कसंगत लगता है।

२ समीक्षात्मक मूल्यांकन

इन सभी युक्तियों मे ईश्वर के विभिन्न-विभिन्न अर्थ किये गये हैं। प्रत्येक [illegible] के [illegible] भिन्न-भिन्न अर्थ है। इस [illegible] कह सकते है कि गान्धी [illegible] ईश्वर का अर्थ ही स्पष्ट नही होता है

दूसरी [illegible] गान्धी को छोड़ कर अन्य [illegible]।

तीसरी शंका [illegible] बेमेल है, उदाहरण [illegible] का, तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति और मूल्यमीमांसक युक्ति का, परस्पर विरोध है।

किन्तु इन तीनों शंकाओं का उत्तर हम एक साथ यह कह कर दे सकते हैं कि गान्धी ने ईश्वर को सदा मूल्य या परम पुरुषार्थ के रूप में समझा। प्रत्येक युक्ति जिस किसी अर्थ में ईश्वर को लेती है, वह अर्थ एक मूल्य है। उसका

स्वयमेव महत्त्व है। ऐसे सभी अर्थों की अर्थवत्ता ईश्वर है। वह कोई विशेष अर्थ या मूल्य नहीं है। वह अर्थमात्र है, मूल्यमात्र है। इस कारण वह प्रत्येक अर्थ में, प्रत्येक मूल्य में, विद्यमान है। सभी युक्तियों को हम इस अर्थ मे ठीक कह सकते हैं कि उन सब में प्रत्येक यह सिद्ध करती है कि जिस किसी विशेष अर्थ में हम ईश्वर को लें, उसकी अर्थवत्ता सदैव अतिगोचर रहती है, वह गोचर और अगोचर नहीं होती है। वह स्वयंसिद्ध है। वह अन्य विषयों का आश्रय या आधार है। उसके रहने पर ही अन्य विषय संभव होते हैं। वही सबको स्थिर करती है।

इन युक्तियों मे परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि वे इस बात मे एकरूप हैं कि अर्थवत्ता ईश्वर है। हाँ, यदि हम विशेष अर्थों को ही ईश्वर मान लें, तो सचमुच इनमें विरोध है। पर ये युक्तियाँ वस्तुतः उन विशेष अर्थों को नहीं सिद्ध करती हैं, ये उनकी अर्थवत्ता को सिद्ध करती हैं। अतः उनकी एकवाक्यता बनी हुई है।

इन युक्तियों से गान्धी को सन्तोष था—यह निर्विवाद है। यह कहना कि इनसे शायद किसी को सन्तोष न हो, वस्तुतः यह मानना है कि इनका कोई महत्त्व ही नहीं है। वस्तुतः इन युक्तियों को दार्शनिकगण सनातन काल से देते आ रहे हैं। गान्धी ने भी उनका व्याख्यान किया। ये सनातन दर्शन की युक्तियाँ हैं। आज भी इनमें से कतिपय को विश्व के दार्शनिक दे रहे हैं। इससे साफ जाहिर है कि इन युक्तियों से बहुतों को संतोष हुआ है और हो रहा है।

इन युक्तियों में कुछेक मे दिखलाया गया है, कि ईश्वर तर्कसिद्ध है और एक-दो मे कहा गया कि ईश्वर तर्क से सिद्ध नहीं है, वह श्रद्धा से सिद्ध है। यहाँ भी लोगों को विरोध लगेगा। पर वस्तुतः विरोध नहीं है। ईश्वर तर्क-सिद्ध है और श्रद्धा-सिद्ध भी है। वह तर्कसम्मत होते हुए भी तर्कोर्ध्व है। तर्कोर्ध्व होने के कारण वह पूर्णतया तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। हाँ, कुछ हद तक, कुछ अंशों मे, तर्कतः उसको सिद्ध किया जा सकता है। वस्तुतः मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियाँ और माँगें हैं। प्रत्येक को संतुष्टि अनिवार्य है। इस कारण हर प्रवृत्ति या माँग के अनुसार ईश्वर को सिद्ध किया जा सकता है। प्रवृत्ति से, बुद्धि से, श्रद्धा से, हृदय से, हम उसको सिद्ध कर सकते हैं।

ईश्वर को अर्थतामात्र मान लेने से ही सब प्रश्न हल नहीं हो जाते। हमें इस अर्थतामात्रता को समझना है। अब हम इसका ही निरूपण करेंगे।

३ ईश्वर का अर्थ

पहले हम देखेंगे कि गान्धी ने ईश्वर को किन-किन रूपों में लिया। यदि हम साधारण मनुष्य के अनुभवों से लेकर गान्धी के परिपक्व विचार तक चलें तो हमें ईश्वर के निम्नलिखित अर्थ क्रमशः मिलेंगे :—

(१) रामनाम। गान्धी साधारण हिन्दू परिवार में पैदा हुए थे। इस कारण उन्हें मन्दिरों में जाने के अवसर बचपन में ही मिलते रहे। पर मन्दिरों में भ्रष्टाचार था। इस कारण गान्धी को वहाँ से ईश्वर का पदार्थ-पाठ न मिला। इस विषय में उन्हें पहला पदार्थ-पाठ अपनी दाई रंभा से मिला। "वह कुटुम्ब की पुरानी नौकरानी थी। मैं भूत-प्रेत आदि से डरता था। रंभा ने मुझे बताया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे तो रामनाम की अपेक्षा रंभा पर अधिक श्रद्धा थी, इसलिए मैंने बचपन में भूत-प्रेत के भय से बचने को रामनाम का जप आरम्भ किया"[३८]।

यहाँ रामनाम ईश्वर है। रामनाम या ईश्वर का अर्थ यहाँ भूत-प्रेत से रक्षा करने वाला है। दूसरे शब्दों में रामनाम का अर्थ अभयदाता है जो अदृश्य है। रामनाम = अदृश्य अभय-दाता।

यहाँ यह ध्यान रहे कि राम शब्द का दार्शनिक अर्थ परम सुन्दर या उदात्त है और प्रचलित अर्थ है दशरथ-सुत, सीता-पति। पर इन दोनों अर्थों से भिन्न, अदृश्य अभयदाता के रूप में ही गान्धी को पहले ईश्वर से परिचय हुआ।

अस्तित्ववादी यहाँ कहेंगे कि भय (Dread) में सच्ची सत्ता का ज्ञान होता है। गान्धी को अपने भय में तो ज्ञान हुआ कि उनके पास भय को दूर करने की भी शक्ति है। वे भय और अभय दोनों के पात्र हैं। भय करना और इससे बचने का उपाय करना हमारे अस्तित्व का परम लक्षण है।

किन्तु अफसोस यह है कि अस्तित्ववादी यहीं रुक जाते हैं। पर गान्धी इस आरंभिक अवस्था से आगे बढ़ते हैं।

(२) (क) दशरथसुत राम। दाई से रामनाम का परिचय पाने के अनन्तर गान्धी ने रामायण की कथा सुनी जो उनके घर के पास ही हो रही

थी। 'राम' शब्द का संबंध रामायण से था और फिर राम की ही उसमें कहानी थी। संभवतः इसी कारण से गान्धी दशरथ-सुत और सीता के पति मर्यादा-पुरुषोत्तम राम को ईश्वर मानने लगे। यहाँ राम का अर्थ है = दशरथ-सुत, सीता-पति और मर्यादा-पुरुषोत्तम या नीति के अनुसार चलने वाला।

(ख) कृष्ण। कुछ इसी समय गान्धी ने भागवत की कथाएँ सुनीं जिनमें कृष्ण को ईश्वर कहा जाता है। यहाँ उन्हें पता चला कि कृष्ण योगिराट्, संपूर्णावतार और मनमोहन हैं।

इन दोनों प्रसंगों से गान्धी को अवतारवाद का ज्ञान हुआ। उन्होंने समझा कि न राम ईश्वर हैं और न कृष्ण। वे ईश्वर के अवतार हैं। ईश्वर का अर्थ अनन्त गुण वाला है। उसके अवतारों में कतिपय गुण ही रहते हैं। कृष्ण में प्रायः ईश्वर के सभी गुण होते हैं।

अब उनको पता चला कि ईश्वर है वस्तुतः निराकार, पर वह अवतार लेता है, शरीर धारण करता है, केवल धर्म या नीति की स्थापना के लिए। उस निराकार ईश्वर को वे 'राम' कहने लगे। कबीर के शब्द कि "दशरथ सुत तिहुँलोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।", उन्हें पसन्द आया। इसी ईश्वर के अवतार होते हैं। राम शब्द अब अनेकार्थक हो गया, इसलिए इस शब्द से जो सत्ता व्यक्त होती है, उसे ही ईश्वर कहा गया। राम से बढ़कर नाम का महत्त्व समझा गया। नामी को ईश्वर कहा गया। कृष्ण और राम उसके नाम माने गये।

(३) अनन्त नाम। बाद को गान्धी ने विष्णुसहस्रनाम से परिचय प्राप्त किया। अब क्या था? अब तो उन्हें अपने ईश्वर में और भी अधिक विश्वास हो गया। उन्होंने समझा कि उस ईश्वर के ही अनन्त नाम हैं, अनन्त अवतार हैं। ये सभी नाम वस्तुतः ईश्वर के गुण हैं। ईश्वर एक होता हुआ भी अनेक नाम वाला है।

यहाँ उन्हें निर्गुण और सगुण का सम्बन्ध भी मिल गया। ईश्वर इस-लिए निर्गुण नहीं है कि उसमें कोई भी गुण नहीं है, बल्कि इस-लिए है कि उसमें अनन्त गुण हैं। वह इसलिए निराकार नहीं है कि उसका कुछ भी आकार नहीं है बल्कि इसलिए कि उसके असंख्य आकार हैं।

"ईश्वर के उतने अधिक नाम हैं जितने कि जीव हैं। इसलिए हम कहते हैं कि ईश्वर नामरहित या अनाम है। और चूँकि ईश्वर के अनेक आकार हैं, इस कारण वह निराकार है। चूँकि वह हमसे अनेक जिह्वाओं द्वारा बोलता है अतः हम उसे अवाक् कहते हैं।"

विष्णुसहस्रनाम के परिचय से गान्धी को यह भी मानना पड़ा कि ईश्वर के अनेक अवतार हैं। वस्तुतः सभी अवतार ईश्वर के समीप रहने वाले व्यक्ति हैं, ईश्वर तो अवतार लेता ही नहीं है। इस प्रकार उनकी अवतारवाद की धारणा बदली। पहले वे वास्तविक अवतार में विश्वास करते थे, अब वे उसमें विश्वास करते हुए भी एक कदम आगे बढ़े। "ईश्वर मनुष्य नहीं है। इसलिए वह किसी मनुष्य में उतरता है या अवतार लेता है, ऐसा कहें तो यह निरा सत्य नहीं है। एक तरह से ईश्वर किसी खास मनुष्य में उतरता है, ऐसा कहने का मतलब सिर्फ इतना ही हो सकता है कि वह मनुष्य ईश्वर के ज्यादा निकट है। उसमें हमें ज्यादा ईश्वरपन दिखाई देता है। ईश्वर तो सब जगह विद्यमान है। वह सब में मौजूद है, इसलिए हम सब ईश्वर के अवतार हैं। मगर ऐसा कहने से कोई मतलब हल नहीं होता। राम, कृष्ण इत्यादि को हम अवतार कहते हैं, क्योंकि लोगों ने उनमें ईश्वर के गुण देखे[४१]।"

किन्तु अवतारवाद का इस प्रकार नया अर्थ ज्ञात होने पर गान्धी ने राम और कृष्ण को दशरथसुत और गोपाल कहना छोड़ नहीं दिया। ईश्वर के अर्थ में विकास हो रहा है, ह्रास नहीं। अर्थ बढ़ता जा रहा है। किसी भी स्तर पर ईश्वर का अर्थ पूर्व स्तरों के अर्थ को छोड़ नहीं रहा है, बल्कि उसको और अधिक गाढ़ा कर रहा है, उसका और अधिक मूल्यांकन कर रहा है। इस प्रसंग में गान्धी के निम्नलिखित शब्द स्मरणीय हैं :—

"सबसे पहले मैं राम को सीता के पति के रूप में पूजता था। किन्तु उसके बारे में ज्यों-ज्यों मेरा ज्ञान और अनुभव बढ़ता गया त्यों-त्यों मेरे राम अमर और सर्वव्यापी होते गये। इसका यह मतलब नहीं कि राम अब सीता-पति नहीं रह गये; बल्कि यह कि सीतापति का अर्थ राम के अर्थ के साथ फैलता गया। इसी तरह दुनियाँ विकास करती है। जो मनुष्य राम को सिर्फ दशरथसुत मानता है, उसके लिए राम सर्वव्यापी नहीं हो सकते। किन्तु राम को ईश्वर मानने वालों के लिए सर्वविद्यमान रामपिता भी सर्वविद्यमान राम हो जाता है, पिता और पुत्र एक हो जाते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह सब कल्पना की बात है। इस प्रसंग में मैं यही कह सकता हूँ कि यह हर आदमी को अपनी श्रद्धा के अनुसार मालूम हो।......जब हम धर्म से थक जाते है तो हम अनीश्वरवादी हो जाते हैं, तब हमारी अल्प आत्मा को छोड़-

कर कुछ नही है, ईश्वर भी नही है। किन्तु जब हमे सच्ची समझ मिल जाती है, तो अल्प आत्मा नष्ट हो जाती है और ईश्वर ही सब कुछ हो जाता है। तब राम दशरथ-सुत, सीतापति, भरत-लक्ष्मण के भाई हैं भी और नही भी तथापि अज और नित्य ईश्वर हैं[४२]।"

(४) राम-रहीम, कृष्ण-करीम। ईश्वर को एक, अज, नित्य, निराकार, अनन्त गुणवाला, सत् मानते हुए गान्धी ने केवल हिन्दू धर्म के अनुसार ही ईश्वर के अर्थ का इतना विकास किया। उसके अनन्तर उन्होंने कुरान और बाइबिल तथा [illegible] का परिचय प्राप्त किया। उनके अध्ययन से उन्हें पता चला कि [illegible] केवल [illegible], केवल [illegible] या केवल जेन्द अवस्ता की परम्परा के [illegible] रामनाम से अनन्त नाम वाले ईश्वर तक [illegible] अनुसार पहुँचे।

इस ज्ञान तथा अनुभव ने उन्हे यह मानने को विवश किया कि सब धर्मों का ईश्वर वस्तुत एक ही है। इस्लाम मे उसको खुदा, करीम, रहीम, अल्लाह, आदि कहते है तो ईसाई मत मे गाड, यहूदी मत मे जिहोवा और पारसीमत मे अहुरा मज्दा। ये सब भी उनको रामनाम के ही पर्याय मिले।

इस अवस्था मे गान्धी की दृष्टि हिन्दू धर्म से बढ़कर विश्व-धर्म तक पहुँच गयी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने हिन्दूधर्म का तिरस्कार कर दिया, बल्कि यह कि हिन्दूधर्म का अर्थ बढ़ा दिया। उसमे प्रत्येक धर्म का समावेश हो गया। जो ईश्वर राम, कृष्ण, गोपाल, गोविन्द, आदि था, वही अब अल्लाह, गाड, अहुरा मज्दा, जिहोवा और पता नहीं और क्या-क्या हो गया। उसके नाम हमारी भाषा मे ही नही वरन् अन्य भाषाओं मे भी हैं।

(५) प्रेम ईश्वर है। अभी तक गान्धी ईश्वर को किसी-न-किसी नाम [illegible]

यहाँ प्रेम से भक्ति का अर्थ लेना चाहिए जिसमें अहंकार तथा भोग का लेश भी नहीं रहता।

(६) ईश्वर सत्य है। यद्यपि ईश्वर को प्रेम मानना उपयुक्त है फिर भी प्रेम का प्रायः अनर्थ किया जाता है। त्याग, बलिदान, भूतदया रूपी जो बहुमूल्य प्रेम का अर्थ है वह प्रायेण भुला दिया जाता है। इसको लौकिक रति समझ लिया जाता है। फिर प्रेम से व्यष्टित्व टपकता है। लगता है कि ईश्वर कोई मूल्य नहीं वरन् भावना-मात्र है। प्रेम मूल्य है, पर प्रायः उसको मूल्य-रूप में न समझ कर लोग भावना-रूप में समझते हैं। इन कारणों से और भारतीय सन्तो के अनुभवो से शिक्षा लेकर ईश्वर को गान्धी ने सत्य कहना शुरू किया। सत्य के अन्दर सत्ता, प्रेम, अभयदाता, तथा ईश्वर को व्यक्त करने वाले प्रत्येक नाम से द्योतित गुण का उन्होंने समावेश किया। निदान अब वे "ईश्वर सत्य है" इस रूप में ईश्वर को समझने लगे।

सकल नैतिक गुणो और व्रतो को उन्होंने सत्य के अन्दर समझा। सत्य ईश्वर का पर्याय माना गया। वह ब्रह्म समझा गया।

(७) सत्य ईश्वर है। यद्यपि 'ईश्वर सत्य है' इस वाक्य से गान्धी सत्य और ईश्वर का अभेद ही समझते थे, पर कुछ लोगो का इससे विरोध था। कुछ लोग ईश्वर को कम-व्यापक और सत्य को अधिक व्यापक समझते थे। नास्तिक या निरीश्वरवादी इनमे मुख्य थे। 'ईश्वर' से सकल मूल्यो का बोध नहीं होता है। सत्य से सब मूल्यो का बोध होता है। ईश्वर से केवल धार्मिक मूल्यों का प्रायः बोध होता है। पर गान्धी अब उस अवस्था तक पहुंच गये थे जहाँ उन्हें प्रत्येक वस्तु का मूल्य प्रतीत होता था। वे स्वास्थ्य, सेवा, कायिक श्रम, स्वदेशी, राजनैतिक आन्दोलन और साहस, अहिंसा आदि नैतिक गुणो को भी मूल्य समझते थे। वे क्रम से प्रत्येक को सुन्दर कहने लगे थे। इससे यद्यपि ईश्वर का अर्थ महामूल्य या मूल्यता या अर्थतामात्र हो गया था तो भी कुछ लोगो को लगता था कि यह अर्थ की खींचा-तानी है। अतः कुछ इन्ही कारणो से गान्धी ने 'ईश्वर सत्य है' कहने के बजाय 'सत्य ईश्वर है', कहना शुरू कर दिया। इससे स्पष्ट हो गया कि जो सत्य सभी मूल्यो—व्यावहारिक, कलात्मक, वैज्ञानिक, सामाजिक, शारीरिक, वैयक्तिक मूल्यों, का प्राण है, वही ईश्वर है। दूसरे शब्दों में ईश्वर का अर्थ है 'मूल्यमात्रता' या सकल मूल्यों का योग।

ईश्वर के अर्थ के इस विकास-क्रम मे निम्नलिखित बातें उल्लेख-योग्य हैं—

(१) प्रत्येक अवस्था मे ईश्वर का अर्थ कोई-न-कोई मूल्य है ?

(२) अनुवर्ती अवस्था द्वारा पूर्ववर्ती अवस्था का अर्थ बढ जाता है, निराकृत नही कर दिया जाता ।

(३) जिन्हें हम ईश्वर का कार्य समझते हैं, वे वस्तुत मूल्य है और जहाँ वे एक ओर हमारी आवश्यकता को सतुष्ट करते हैं वहाँ दूसरी ओर उनका स्वय मूल्य है अर्थात् हमसे स्वतन्त्र भी उनका अर्थ है ।

सृष्टिवैज्ञानिक युक्ति कृतित्व को, कारणिक युक्ति पितृत्व को, नैतिक युक्ति नैतिक आदर्श या नि श्रेयस को, औपेयिक युक्ति अनुक्रम, सप्रयोजनता, सुन्दरता और उदात्तत्व को, तत्त्ववैज्ञानिक युक्ति अस्तित्व को, प्रतिगोचरमय निगमन अनुभवाश्रयत्व को, म[illegible] [illegible] को, शब्द-प्रमाण धर्मग्रन्थों के मूल्य को, ऐतिहासिक साक्ष्य प्राचीन सतों के अनुभवो के मूल्य को, व्यावहारिक युक्ति व्यवहार को, अस्तित्ववादार्शनिक युक्ति सकटापन्न क्षणो तथा गुह्य वस्तुओ को और रहस्यवादी युक्तियाँ विकास की अनन्तता-जैसे मूल्यो को सिद्ध करती है । इन सभी मूल्यों के महायोग को ही हम सत्य या ईश्वर या ब्रह्म या राम कृष्ण आदि कहते हैं । यदि ईश्वर के इस अर्थ को हम ध्यान मे रखें तो प्रत्येक युक्ति हमें अपने साध्य के लिए ठीक प्रतीत होगी । हा, यदि हम किसी युक्ति से उसका कार्य न लेकर [illegible] तो [illegible] प्रतीत [illegible] । उदाहरण के लिए [illegible] हम उनसे [illegible] वस्तुत [illegible] मूल्य के [illegible] इन मूल्यों [illegible] है । [illegible] उसका ही [illegible] [illegible] और [illegible]

४ सगुण-निर्गुण-विचार

[illegible] ईश्वर [illegible] वरन उसका [illegible] निर्गुण ब्रह्म

का भी ध्यान करते थे। उनके निम्नलिखित शब्द इस विषय में प्रमाण हैं—

(क) "ईश्वर स्वयं न नर है, न नारी है, उसके लिए न पंक्तिभेद है, न योनिभेद, वह 'नेति-नेति' है"[४३]।

(ख) "चाहे उसे ईश्वर कहो या अल्लाह या गाड या अहुरा मज्दा। उसके असंख्य नाम हैं, उतने जितने मनुष्य हैं। वह एक और अद्वितीय है। वही अकेला ब्रह्म या बृहत् है। उससे बृहत् कोई नहीं है। वह कालातीत, निराकार, निष्कलंक है। ऐसा मेरा राम है। वही अकेला मेरा प्रभु और स्वामी है।"[४४]

और भी नाना स्थलों पर गान्धी ईश्वर को निराकार कहते हैं और इस प्रकार उसका वर्णन करते हैं कि कोई भी यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि गान्धी का ईश्वर निर्गुण, निराकार, स्वगत-सजातीय-विजातीय भेद से मुक्त अद्वैत ब्रह्म है। यहाँ उन स्थलों के उद्धरण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त उद्धरण पर्याप्त हैं।

इतना होते हुए भी लोगों ने गान्धी को सगुणब्रह्मवादी या अनीश्वरवादी कहा है। डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त ने कहा "यदि व्यक्तित्व का अर्थ आत्मचेतना तथा संकल्पशक्ति है, तो कहा जा सकता है कि गान्धी ईश्वर को व्यक्ति (पुरुष) मानते थे और उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् स्रष्टा तथा जगत् का शासक कहते थे। सब कुछ देखने पर इसलिए यह कहना युक्तियुक्त होगा कि गान्धी सगुणब्रह्मवादी या ईश्वरवादी थे, एक वैष्णव थे, अद्वैतवादी या शंकर के अनुयायी नहीं थे[४५]।"

यहाँ यह कहना पर्याप्त है कि गान्धी का ईश्वर आत्मचेतना नहीं किन्तु चैतन्यमात्र है और उसमें संकल्पशक्ति नहीं है। उसके कार्यकलाप तो यन्त्रवत् हो रहे हैं। अनासक्तियोग में गान्धी ने कहा कि "मनुष्य को समझना तो यह है कि जैसे ईश्वर की प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है वैसे मनुष्य को भी बुद्धिपूर्वक किन्तु यंत्र की भांति ही नियमित काम करना उचित है[४६]।" इससे स्पष्ट है कि ईश्वर द्वारा कर्म उस प्रकार संकल्पकृत या बुद्धिकृत नहीं है जैसे कि हमारे हैं। गान्धी ने कई बार कहा है कि मनुष्य अपने अनुसार ही ईश्वर को समझने की भूल करता है। हमारे दुर्भाग्य से इन्सान ने भगवान् को अपने-जैसा बना डाला है[४७]। [illegible]

[illegible]

वान् नहीं कह सकते है। यदि ऐसा होता तो वह गुणातीत और 'नेति नेति' क्यों कहा जाता ?

गान्धी के परम ब्रह्म को गोरा ने तो बिलकुल अनस्तित्व समझ लिया। उनका कहना है कि गान्धी निरीश्वरवादी थे। उन्होंने अपने प्रमाण में गान्धी के निम्नलिखित वचन रखे—

(क) "मैं अति-निरीश्वरवादी हूँ"[४८]।

(ख) "गान्धी ने पंडित सुन्दरलाल से अपने महाप्रयाण के कुछ दिन पूर्व ही कहा था, "यदि साम्प्रदायिक दंगों को समाप्त करने में निरीश्वरवाद मदद देता है, तो मैं चाहूंगा कि कौमें निरीश्वरवादी हो जायें[४९]।"

(ग) "न तो मैं कह सकता हूं कि मेरा आस्तिकवाद सही है और न कह सकता हूं कि तुम्हारा निरीश्वरवाद गलत[५०]।"

(घ) "मैं तुम्हारी लड़की की शादी में आशीर्वाद देते हुए कहूंगा 'सत्य के नाम पर', ईश्वर के नाम के पर नहीं[५१]।"

(ङ) सत्य का अर्थ सत्ता है....और यही सत्य ईश्वर है[५२]।

गोरा आत्मा की स्वतंत्रता और सत्यता में विश्वास करते हैं। वे इससे भिन्न ईश्वर को नहीं मानते, अतः अपने को निरीश्वरवादी कहते हैं। गान्धी उनको आदर और स्नेह की दृष्टि से देखते थे।

पर गान्धी को निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। गोरा के साथ संलाप करते हुए गान्धी अपने को ईश्वरवादी सिद्ध करते हैं।

वस्तुतः गान्धी ईश्वर और परम ब्रह्म में भेद नहीं करते हैं। उनका ईश्वर अद्वैतवाद का ब्रह्म है। इस कारण उसे सगुण समझना या उसको न मानना दोनों गलत दृष्टियां हैं।

गान्धी कह सकते हैं कि सगुणवादी परम सत् में नुक्तसंस्कार का आरोप करते हैं और इस कारण उसे न समझने में अपनी बुद्धि की अपरिपक्वता दिखलाते हैं। उनसे भी गये-गुजरे बुद्धिहीन वे लोग हैं जो उन परम सत् का बिलकुल अपलाप ही कर डालते हैं।

गान्धी का परम सत् सगुणवाद और निरीश्वरवाद इन दोनों दृष्टियों से पृथक् है। पर उसको समझने में ये दोनों दृष्टियां कुछ सहायता दे सकती हैं,

समझना है। पहले हम यह देखें कि क्यों गान्धी के ब्रह्म को लोग निरीश्वर समझते हैं ? इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होगा कि वस्तुतः गान्धी का ब्रह्म आत्मा ही है। वह शंकर के अद्वैतवाद का ब्रह्म है। वही सत् है, चित् है और आनन्द है। वह स्रष्टा आदि नहीं है। कहना नहीं होगा कि यदि निरीश्वरवाद का यही अर्थ है तो हम गान्धी के ब्रह्म को निरीश्वर समझ सकते हैं।

सगुणवादी क्यों गान्धी के ब्रह्म को सगुण ईश्वर कहते हैं ? इसका समाधान यह है—गान्धी प्रार्थना में विश्वास करते हैं। वे ब्रह्म को स्वामी-प्रभु मानते हैं और स्वयं को दास। वे ब्रह्म को अर्पण करके ही सब काम-काज करते हैं। वे अपने को ब्रह्म नहीं मानते और कहते हैं कि ब्रह्म उनका आदर्श है, न कि वास्तविकता। उस ब्रह्म में अनेक या अनगिनत गुण हैं। इसलिए वह सगुण है। कहना नहीं होगा कि यदि सगुणवाद का इतना ही अर्थ है तो गान्धी सगुणवादी कहे जा सकते हैं।

पर निरीश्वरवाद और सगुणवाद के इतने ही अर्थ नहीं हैं। अन्य अर्थों में हम गान्धी को निरीश्वरवादी या सगुणवादी नहीं कह सकते।

हिन्दी के सन्तों ने सगुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म, और सत्यरूपी आत्मा का इस प्रकार समन्वय किया है कि तीनों एकमेक हो गये हैं। यही कारण है कि हिन्दी के निर्गुणोपासक और सगुणोपासक दोनों प्रकार के सन्त इस परम सत् को 'राम' कहते हैं और उसके नामों में उन नामों का भी उल्लेख करते हैं जिनसे सगुण ब्रह्म या उसके अवतार का बोध होता है। गान्धी इसी परम्परा के अनुयायी हैं। उनके अनुभवों में सन्तों की [illegible] अनुभूति है। इस परम्परा ने जो सगुण और निर्गुण का समन्वय किया है वह गान्धी की भजनावलि और रचनाओं में देखने में आता है।

सगुण और निर्गुण का समन्वय निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

तुलसीदास की यह चौपाई भजनावलि में दी हुई है जो इस प्रश्न पर प्रकाश डालती है—

[illegible] कमल सोह सर कैसे।

[illegible] निर्गुन [illegible] ।

[illegible]

निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म का आधार ही नहीं है, वरन् कुछ और है। यहाँ यह दिखलाया गया है कि झील भर में कमल फूले हैं। कमलहीन झील का एक बिन्दु भी नहीं है। इस तरह यह दिखलाया गया है कि सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनों समकक्ष हैं। दोनों का क्षेत्र समान है। झील होगी तो कमल अवश्य ही खिलेंगे। यह भी यहाँ अभिप्राय है।

यदि उपमा को छोड़ दें तो सीधी भाषा में इसके अर्थ ये होंगे—

(क) निर्गुण ब्रह्म निर्गुण इसलिए है कि उसमें अनगिनत गुण हैं।

(ख) निर्गुण ब्रह्म निर्गुण इसलिए है कि वह अनगिनत गुणों से भी अतीत है। वह उनका आधार है।

(ग) सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म का अंग या अंश नहीं है। दोनों में अभेद है। समूचा निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म होता है।

(घ) निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म एक ही सत् को दो दृष्टियों से देखना है। एक दृष्टि से वह सगुण है तो दूसरी दृष्टि से वह निर्गुण है। एक दृष्टि से, जल-दृष्टि से, महज पानी वाली झील है तो दूसरी दृष्टि से वह कमलों की वनस्थली है।

(ङ) पारदर्शी लोग ही तालाब को देख सकते हैं क्योंकि कमलों के मारे पानी दिखाई नहीं पड़ता। पारदर्शी लोग ही निर्गुण ब्रह्म को देख सकते हैं। साधारण दृष्टि वाले सगुण को ही देखेंगे, कमल को ही देखेंगे। इस प्रकार सगुण ब्रह्म सुलभ और निर्गुण ब्रह्म दुर्लभ है।

(च) सगुण ब्रह्म को अच्छी तरह से समझ लेना निर्गुण को समझ लेना है और निर्गुण को समझना सगुण को समझ लेना है।

(छ) परम सत् का निर्गुण स्वरूप नित्य कूटस्थ है। उसके गुण अनित्य हैं यद्यपि उसका सगुण स्वरूप नित्य परिवर्तनशील है। झील नित्य है, कमल अनित्य हैं। पर झील सदैव कमलशील रहेगी क्योंकि कमल-सन्तति नित्य है।

(ज) बिना झील को समझे कमलों को समझना ठीक नहीं है, अन्यथा वनस्थली का भ्रम हो जायगा। बिना निर्गुण ब्रह्म के सगुण ब्रह्म को समझना गलत है।

(झ) पर निर्गुण ब्रह्म को समझने पर सगुण ब्रह्म को समझना जरूरी है। झील को [illegible] बिना झील को समझे [illegible]

(ञ) कमल झील में कृत्रिम नहीं हैं। उन्हें किसी ने लगाया नहीं है। वे स्वभावतः उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार स्वभावतः निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म उत्पन्न होता है।

(ट) सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म की शोभा है। कमल झील की शोभा है। सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म का आभरण है।

(ठ) सगुण ब्रह्म का उद्देश्य या लक्ष्य निर्गुण के इशारे पर चलना है। कमलों का उगना, फूलना और हिलना झील के इशारे पर है। सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म का खिलौना है। झील कमलों से खेलती जान पड़ती है।

(ड) तात्त्विक दृष्टि से सत्य झील है और कमल की दृष्टि से सत्यता, सत् नहीं, झील के इशारे पर चलना है। सत् निर्गुण ब्रह्म है। सत्यता सगुण ब्रह्म का निर्गुण के इशारे पर चलना है। सगुण की सत्ता निर्गुण है। और इस सत्ता के कारण सगुण का अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह निर्गुण का कार्य करे।

(ढ) सगुण ब्रह्म जीवधारियों का ऐसा समूह है जिसमें व्यक्ति तो नष्ट हो रहे हैं और जन्म ले रहे हैं, पर जिसकी समष्टि सदैव बनी रहती है।

इसी झील और कमल के उदाहरण से हम तुलसी और कबीर के अन्तर को भी समझ सकते हैं। तुलसीदास सगुण और निर्गुण को अच्छी तरह समझकर एक गुण विशेष पर, एक कमल विशेष को, ले लेते हैं और उसी को समझ-बूझकर खूब वर्णन करते हैं। वे राम के चरित को ही लेते हैं और उसी में सब कुछ ठीक ही देखते हैं। कबीर कहते हैं कि ऐसे अनगिनत 'राम' हैं, प्रतिक्षण हो रहे हैं और लय भी होते जा रहे हैं। इस तरह कबीर की दृष्टि कमल-सन्तति पर है तो तुलसी की दृष्टि कमल विशेष पर। इसी बात को कबीर की निम्नलिखित पंक्तियां जो भजनावलि में संगृहीत हैं, स्पष्ट करती हैं।

श्री परमपुरुष देवाधिदेव,
भक्तहेत नरसिंह भेख,
कहे कबीर कोऊ लखा न पार,
प्रहलाद उबारे अनेक बार।[५४]

अनेक बार ब्रह्म नरसिंह रूप धरता है और प्रह्लाद को तारता है। तुलसीदास भी इस तत्त्व को जानते थे। वे कहते हैं—हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता। पर जहाँ कबीर की दृष्टि सन्तति पर ज्यादा है वहाँ तुलसी की दृष्टि उसकी एक कड़ी पर है।

गान्धी गीताबोध में तुलसीदास की ही तरह कहते हैं—

"जो निराकार तत्व को भजते हैं और उसे भजने के लिए समस्त इन्द्रियों का संयम करते हैं, सब जीवों के प्रति समभाव रखते हैं, किसी को ऊंच-नीच नहीं गिनते, वे भी मुझे (भगवान् को) पाते हैं ।........पर निराकार की भक्ति शरीरधारी द्वारा संपूर्ण रूप से होना अशक्य माना जाता है, निराकार निर्गुण है, अतः मनुष्य की कल्पना से परे है । अतः सब देहधारी जाने-अनजाने साकार के ही भक्त हैं[५५] ।"

और

"वह सत् नहीं है और असत् भी नहीं है । उससे भी परे है । अन्य दृष्टि से उसे सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है । तथापि उसकी नित्यता को भी मनुष्य नहीं पहचान सकता, इससे उसे सत् से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नहीं है । उसे हजारों हाथ-पांव वाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसे हाथ-पैर आदि हैं यह जान पड़ते हुए भी वह इन्द्रिय-रहित है । उसे इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है, उनसे वह अलिप्त है । इन्द्रियां तो आज हैं और कल नहीं हैं । पर ब्रह्म तो नित्य है ही । और यद्यपि वह सब में व्याप्त और सब को धारण किये हुए है, इससे गुणों का भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नहीं पहचानते उनके हिसाब से तो वह बाहर ही है । प्राणियों के अंदर तो वह है ही, क्योंकि सर्व-व्यापक है । वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है । सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े । दूर भी है और नजदीक भी है । नाम-रूप का नाश है तथापि वह तो है ही, इस प्रकार अविभक्त है, पर असंख्य प्राणियों में है यह भी कहते हैं, इससे वह विभक्त रूप से भी भासित होता है[५६] ।"

दार्शनिक पदावली का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि सगुण और निर्गुण का सम्बन्ध वस्तुतः यों है—

(१) निर्गुण व्यापक है तो सगुण व्याप्य । यह संबन्ध व्याप्य-व्यापक सबन्ध है । यह अन्तर्यामिता (Immanence) है । निर्गुण अन्तर्यामी है ।

(२) निर्गुण सगुणातीत है पर सगुण को समेट कर । यह बहिर्यामिता (transcendence) है जिसमें अन्तर्यामिता समन्वित है । निर्गुण बहिर्यामी और अन्तर्यामी दोनों है । उसकी अन्तर्यामिता ही उसकी बहिर्यामिता है । अतः अन्तर्यामिता बहिर्यामिता का अंग नहीं है ।

(३) सगुण निर्गुण की लीला-सृष्टि है। इस संबन्ध का विवेचन देहतत्त्व और जगत् के अध्याय में किया जायगा।

निर्गुण और सगुण दोनों के मानने वालों को सत्य नाम पसंद है। इसी को गान्धी ईश्वर कहते हैं। अतः उन्होंने इसमें दोनों का समाहार कर लिया है। कबीर[४७] ने इस समाहार को बड़े अच्छे शब्दों में व्यक्त किया है:—

सत्त नाम है सब तें न्यारा।
निर्गुन सगुन शब्द पसारा॥
निर्गुन बीज सगुन फल-फूला।
साखा ध्यान, नाम है मूला॥
मूल गहे तें सब सुख पावैं।
डाल-पात में मूल गँवावैं॥
साईं मिलावी सुक्ख दिलावी।
निर्गुन सगुन भेद मिटावी॥

अन्त में अब यह कहा जा सकता है कि गान्धी का मत शंकर के मत के अनुसार ही है। शंकर को भी कुछ लोग निरीश्वरवादी समझते हैं तो कुछ लोग सगुण ब्रह्मवादी। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो इन दोनों भ्रान्त दृष्टियों से मुक्त होकर दोनों के ग्राह्य सार को लेते हुए उनके ब्रह्मवाद को समझते हैं। वस्तुतः शंकराचार्य ब्रह्म को ईश्वर भी मानते हैं। वैसे ही गान्धी निर्गुण ब्रह्म को ही सगुण ब्रह्म कहते हैं। वे शंकर तथा तुलसी और कबीर की ही परम्परा के सिद्धान्त के पोषक हैं। अतः ईश्वर-विषयक उनके सिद्धान्त को हम ब्रह्मवाद कहेंगे। इस ब्रह्मवाद को वैष्णव वेदान्तियों के ब्रह्मवाद से भिन्न समझना चाहिए क्योंकि यहाँ विशुद्ध एकता है ब्रह्म और ईश्वर में। ईश्वर ब्रह्म का अंश नहीं है। वह ब्रह्म ही है।

टिप्पणियाँ और सन्दर्भ

१ हिन्दू धर्म पृ० ४३।
२ प्रार्थना प्रवचन भाग १ पृ० ७३।
३ हिन्दू धर्म पृ० ६३।
४ पन्द्रह अगस्त के बाद पृ० २८-२९।
५ हिन्दू धर्म पृ० ६५।
६ वही पृ० ६१।

७ आत्मकथा पृ० ६२२।
८ हिन्दू धर्म पृ० ६१।
९ प्रार्थना प्रवचन भाग १ पृ० १३१।
१० हिन्दू धर्म पृ० ६४।
११ गीतामाता पृ० १४०।
१२ हिन्दू धर्म पृ० ६८।
१३ Contemporary Indian Philosophy, ed. S. Radhakrishnan, पृ० २२।
१४ An Atheist With Gandhi, Gora, पृ० ४५।
१५ Idealistic Thought of India, P. T. Raju, पृ० २९७।
१६ Hindu Dharma, पृ० ६५।
१७ गीतामाता पृ० १४४।
१८ Hindu Dharma, पृ० ६४।
१९ An Atheist with Gandhi, पृ० १२।
२० प्रार्थना प्रवचन भाग १ पृ० ३२७-३२८।
२१ धर्मनीति पृ० १५७-१५८।
२२ प्रार्थना प्रवचन भाग १ पृ० २४।
२३ Hindu Dharma, पृ० ६५।
२४ वही पृ० ६३।
२५ वही पृ० ३८।
२६ An Atheist with Gandhi, पृ० २८।
२७ वही पृ० ४५।
२८ Hindu Dharma, पृ० १२१।
२९ ब्रह्मचर्य भाग दो पृ० ५७-५८।
३० आत्मकथा, प्रस्तावना पृ० ५।
३१ Hindu Dharma, पृ० ६१।
३२ वही पृ० ६६।
३३ धर्मनीति पृ० १७८।
३४ वही पृ० १३४।
३५ Hindu Dharma, पृ० १०५।
३६ An Atheist with Gandhi, पृ० ३६-३०।

३७ पन्द्रह अगस्त के बाद, पृ० १३४।
३८ Hindu Dharma, पृ० ९१।
३९ आत्मकथा पृ० ३८।
४० Hindu Dharma, पृ० ६६-६७।
४१ ब्रह्मचर्य भाग दो, पृ० ५७।
४२ राम नाम पृ० १७।
४३ प्रार्थना प्रवचन भाग एक, पृ० १३१।
४४ राम नाम पृ० ५५।
४५ Philosophy of Mahatma Gandhi, D. M. Datta, पृ० २७।
४६ गीतामाता पृ० १४१।
४७ पन्द्रह अगस्त के बाद पृ० २८।
४८ An Atheist with Gandhi, पृ० ४५।
४९ वही पृ० ४६।
५० वही पृ० ४२।
५१ वही पृ० ४५।
५२ वही पृ० ४५।
५३ आश्रम भजनावलि पृ० ६५।
५४ वही पृ० १०४।
५५ गीतामाता पृ० ७३।
५६ वही पृ० ७८।
५७ देखिये कबीर ग्रन्थावली या वियोगी हरि द्वारा संपादित सन्त सुधासार पृ० १००।

अध्याय ७

जीव-तत्त्व

१ परमार्थज्ञता या चेतना

जिनमें जीवन होता हो उनको हम जीव या जीवधारी कहते हैं। जीवन सबका एक है, यद्यपि जीव अनेक हैं।

सभी जीव देहधारी होते हैं। देह के न रहने पर जीव जीव नहीं रह जाता। तब तो वह साक्षात् परमात्मा ही हो जाता है क्योंकि एक वही देहातीत है यद्यपि वह देहधारी भी है। देह या पुर में रहने के कारण ही जीव को पुरुष कहा जाता है[1]।

जीवों में प्रकार-भेद हैं या योनि-भेद हैं। सामान्यतः हिन्दूधर्म में ८४ लक्ष योनियाँ मानी जाती है। गान्धी इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं।

जीवों में प्रकारता या योनि का भेद उनकी चेतनता तथा परमार्थिता के कारण है। कुछ जीवों में चेतनता अल्प होती है तो कुछ में महान्। कुछ कम परमार्थी होते हैं तो कुछ अधिक। कीटाणु, कीट, पशु, पक्षी और मनुष्य, इस प्रकार चेतनता और परमार्थिता के तारतम्य में शृंखलित हैं। मनुष्य में चेतनता और परमार्थिता दोनों सब जीवों से अधिक होती हैं। डार्विन की खोजों का प्रमाण देते हुए गान्धी ने कहा, "डार्विन बताता है कि पशुओं में भी एक हद तक परमार्थ-बुद्धि देखने में आती है। भीरु स्वभाव वाले पक्षी भी अपने बच्चों की रक्षा करने के समय बलवान् बन जाते हैं। वह कहता है कि प्राणि मात्र में परमार्थ-बुद्धि थोड़ी-बहुत भी न होती तो आज दुनिया में घास-पात और जहरीली वनस्पतियों के सिवा शायद ही कोई जीवधारी होता। मनुष्य और दूसरे प्राणियों में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। वह दूसरों के लिए अर्थात् अपनी नीति के प्रमाण में अपने बच्चों के लिए, अपने देश के लिए अपनी जान कुरबान करता है[2]।"

फिर जगदीश चन्द्र बोस की खोजों को मानते हुए गान्धी ने जड़ को भी जीवधारी माना[3]। और यदि कुछ-न-कुछ परमार्थिता सब जीवों में सिद्ध की जा सकती है तो फिर घास-पात और वनस्पति तथा जड़ पदार्थों मे भी वह मानी जा सकती है, परिमाण मे चाहे वह भले ही अत्यल्प हो और प्रकारता में चाहे अत्यन्त निम्न हो।

सुप्त परमार्थिता से लेकर जाग्रत् परमार्थिता तक यदि हम भेद करें तो सभी जीवों में परमार्थिता है—यह अनुभव-सिद्ध है।

जो बात परमार्थिता के विषय में है वही चेतनता के बारे में भी है। वस्तुतः परमार्थिता का अटूट संबन्ध चेतनता से है। एक की उपस्थिति मे दूसरी की उपस्थिति है और एक की अनुपस्थिति मे दूसरी की अनुपस्थिति। चेतनता के विषय मे गान्धी कहते हैं कि "हमारे वैदिक धर्म के मुताबिक 'कान्शंस' सभी में—जड़-चेतन में—होता है। पर बहुतो का कान्शस सोया हुआ रहता है अर्थात् उनकी अन्तरात्मा मूढ़ अवस्था मे होती है। तो उस अवस्था मे उसे कान्शंस कैसे कहा जाय[4]"?

यहाँ स्पष्ट है कि गान्धी सुप्त कान्शंस को कान्शस नहीं कहना चाहते। इसी प्रकार वे सुप्त चेतनता को चेतनता भी नहीं कहना चाहते। पर यह वस्तुतः लोक मे प्रचलित जड़ और जीव के कृत्रिम भेद के अनुसार है। वास्तविक दृष्टि मे चेतनता और परमार्थिता दोनो जड़चेतन मे न्यूनाधिक मात्रा मे हैं।

इस प्रसग मे ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मंत्र मे गान्धी का अटूट विश्वास प्रमाण-भूत है जिसके अनुसार ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्या जगत् है अर्थात् जो कुछ भी इस जगत् मे है वह ईश्वर अर्थात् परमार्थता और चेतनता से व्याप्त है।

अस्तु जीवतत्त्व के प्रत्ययन में गान्धी चेतनता और परमार्थता को अवश्य मानते है। यह उनकी विशेष बात है। इसका तात्पर्य हुआ कि आत्मा सर्वान्तर है। इस प्रसंग मे ईसाइयों से उनका मतभेद बहुत प्रसिद्ध है। ईसाई मत के अनुसार आत्मा केवल 'मनुष्यों मे है, पर गान्धी तथा हिन्दुधर्म के अनुसार आत्मा जड़ और चेतन सब में है[5]। इतनी विशिष्टता रखते हुए भी गान्धी जीव या चेतन और जड़ का लौकिक भेद मानते हैं, क्योंकि उनके मत से चेतनता सुप्त भी रह सकती है अर्थात् अव्यक्त भी रहती है।

२ प्राण और उसकी विशेषताएं

जीव-तत्त्व का इतना लक्षण खोजने के अनन्तर गान्धी जीववैज्ञानिक ढंग से भी जीव के लक्षणो पर विचार करते है। जीवो का मूल तत्त्व बीज-कोष है। कोषानुसार जीव-भेद होता है। कुछ जीव एककोषी होते है तो कुछ बहुकोषी। आदि-जीव (प्रोटोजोआन) का शरीर केवल एक कोष का होता है।

जीवों या प्राणियो मे प्राण होता है। प्राण की मुख्य दो विशेषताएँ हैं, पुनर्जनन और जनन। पुनर्जनन का मतलब है जीव का अपने शरीर के विकास का उत्पादन करना और जनन का मतलब है अपनी वंश वृद्धि करना। पुनर्जनन बीजकोष के विभाजन, विलगाव और संवर्धन की प्रक्रिया की आवृत्ति द्वारा होता है।

पुनर्जनन और जनन—ये यान्त्रिक क्रियाएं नहीं हैं। ये चेतन क्रियाएं हैं। "पुनर्जनन यान्त्रिक क्रिया—बेजान कल के पुरजो का हिलना—न है और न हो सकता है। वह जो जीव-सृष्टि मे कोष के प्रथम विभाजन की तरह प्राण या जीव का अस्तित्व बताने वाला व्यापार है। अर्थात वह कर्त्ता मे बुद्धि और संकल्प की शक्ति होने की सूचना देता है। प्राणतत्त्व का विभाजन और विलगाव—उसका विशिष्ट कार्यों की योग्यता प्राप्त करना शुद्ध यान्त्रिक क्रिया है, यह बात तो सोची भी नहीं जा सकती। इसमे सन्देह नहीं कि जीवन की ये मूलभूत क्रियाएँ हमारी वर्तमान चेतना मे इतनी दूर जा पड़ी हैं कि कोई बुद्धिकृत या सहज संकल्प उनका नियमन करता है, यह नहीं जान पड़ता। पर क्षण भर के विचार मे ही यह बात स्पष्ट हो जायगी कि पूरी बाढ को पहुंचे हुए मनुष्य का संकल्प जिस तरह उसकी बाह्य चेष्टाओं और क्रियाओं का संचालन, बुद्धि के निर्देशानुसार करता है, वैसे ही यह भी मानना होगा कि आरम्भ मे होने वाली शरीर के क्रमिक संघटन की क्रियाएँ अपनी [illegible] के अन्दर, एक प्रकार की बुद्धि [illegible] पाई है [illegible] एक प्रकार की इच्छा-शक्ति था [illegible] परिचालित होती है। [illegible] आत्म-ज्ञान [illegible] [illegible] हमारी [illegible] आगरूक [illegible] सावधान [illegible] है। [illegible] अभी [illegible] सकती।

"इस प्रकार हमारी अन्तश्चेतना ही वह प्राणशक्ति है जो शरीर के भीतरी निर्माण और विकास की पेचीदा क्रियाओं का नियमन करती है। उसका पहला काम है—गर्भयुक्त डिम्ब को अलग करना और इसके बाद प्राणी की मृत्यु होने तक मूल बीज-कोषों को जज्ब कर और उन्हें भिन्न-भिन्न अंगों को भेजकर, अपने पिंड या शरीर की रक्षा करते रहना[६]"। गान्धी के इन शब्दों से साफ जाहिर है कि वे कई नामी जीव-वैज्ञानिकों की भाँति मूल प्राण-तत्त्व को अन्तश्चेतना मानते है। मूल प्राण-तत्त्व को हम जीव या जीव-तत्त्व या प्राणतत्त्व कहेंगे। पुनजर्नन तथा जनन इसी के द्वारा होता है।

इस प्रकार यदि देह अथवा देह के घटक कोषों को हम छोड दें, तो प्रत्येक जीव के निम्नलिखित घटक हुए—

(१) प्राणतत्त्व

(२) अन्तरात्मा, परमात्मा या आत्मा

(३) परमार्थ-बुद्धि

३ प्राणतत्त्व का विकास

प्राणतत्त्व का विकास प्रत्येक जीव में होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ इसी से विकसित है। जैविक व्यापार भी इसी के विकास हैं।

प्राणतत्त्व का सबसे जटिल विकास मनुष्य मे होता है। प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान ये पंच प्राण प्राणतत्त्व से ही विकसित होते हैं। इसी से चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—इन पाच इन्द्रियो के व्यापार का विकास होता है। इसी से मुख, हाथ, पैर, मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय—इन पाच कर्मेन्द्रियों के व्यापार का विकास होता है। मन, अहंकार, चित्त और बुद्धि—इस अन्त.करण-चतुष्टय का भी विकास प्राण-तत्त्व से ही होता है।

प्राणतत्त्व से विकसित मुख्य तत्त्वों का आत्मा के साथ प्रगाढ संबंध है। इस प्रसंग मे गान्धी कठोपनिषद के निम्नलिखित श्लोको का दैनिक स्मरण करते थे—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन. प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:[७]॥

अर्थात्

समझो कि आत्मा रथ पर सवार लड़वैया है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े कहे जाते हैं, और पांच विषय (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) उनके गोचर मैदान हैं। ज्ञानी लोग कहते हैं कि मन और इन्द्रियों के साथ जुड़ी हुई आत्मा इन विषयों को भोगने वाली है।

ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि का विकास मानवेतर जीवों में उतना नहीं है जितना मनुष्य में, बल्कि मनुष्य की अपेक्षा बहुत कम है। कहना चाहिए कि प्राणतत्त्व का सर्वाधिक विकसित प्राणी मनुष्य ही है। हर प्राणी का, हर मनुष्य का, प्राणतत्त्व भिन्न-भिन्न होता है। यहाँ हम आत्मा और प्राणतत्त्व या जीव के सबन्ध पर विचार करने के लिए मनुष्य को ही लेंगे। ऊपर कहे गये कठोपनिषद् के श्लोकों से सिर्फ इतना जाहिर होता है कि आत्मा और जीव में गाढ़ा सबन्ध है। इस संबन्ध का निश्चित अर्थ जानना है।

४ आत्मा और जीव का संबन्ध

आत्मा और जीव के संबन्ध को गान्धी ने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। हम पहले उनका निरूपण करेंगे।

(१) गान्धी की दैनिक प्रार्थना के अन्तर्गत शंकराचार्य-कृत प्रातः स्मरणम् है जिसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ जीव की विविध अवस्थाओं के साथ आत्मा का संबन्ध बताती है—

यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यम्
तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः।[८]

अर्थात्

जो चतुर्थ अवस्था (तुरीय) रूप है, जो जागृति, स्वप्न और निद्रा, तीनों अवस्थाओं को हमेशा जानता है, और जो शुद्ध ब्रह्म है, वही मैं हूँ, पंचमहाभूतों से बनी हुई यह देह मैं नहीं हूँ।

यहाँ यह कहा गया है कि जीव की प्रायः तीन अवस्थाएँ होती है—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अर्थात् स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा। प्रत्येक अवस्था में जीव भिन्न रहता है। जाग्रत अवस्था का जीव 'विश्व' कहा जाता है, स्वप्न का 'तैजस', और सुषुप्ति का 'प्राज्ञ'। आत्मा न तो विश्व है, न तैजस और न

न प्राज्ञ, यद्यपि वह इन तीनों का आधार है और इन तीनों में इस रूप में मौजूद रहती है। यदि इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त और कोई अवस्था हो तो उनमे भी जीव विश्व, तैजस और प्राज्ञ से भिन्न होगा, मगर उसका भी आधार आत्मा होगी। इस कारण आत्मा किसी अवस्था-विशेष का अनुभवकर्त्ता जीव नहीं है। वह सकल अवस्थाओं का अनुभवकर्त्ता होते हुए भी उनके विशिष्ट अनुभवकर्त्ताओं से भिन्न है। इस कारण हम उसको 'तुरीय' अर्थात् जो तीन अवस्थाओं वाला न हो, वरन् चौथी अवस्था वाला हो, कहते हैं। तुरीय का मतलब शब्दतः चौथा होता है। पर यहां उसका अर्थ निषेधात्मक है अर्थात् जो पहला, दूसरा और तीसरा न हो। यदि और अवस्थाओं को मान लिया जाय तो हम तुरीय को 'तुरीय' (चौथा) नहीं कह सकते। यह वस्तुतः अवस्थाव्यतिरिक्त का पर्याय है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि जीवों के विश्व, तैजस और प्राज्ञ तो भिन्न-भिन्न है, पर उन सबकी 'आत्मा' एक है। प्रत्येक जीव का आधार 'आत्मा' है। यही आत्मा सब जीवों की आत्मा है। इसी को हम ब्रह्म कहते है।

आत्मा और जीव के इस सबन्ध को हम आधाराधेय संबंध कहेंगे। प्रायः इसको 'अभेद सबन्ध' भी कहा जाता है। इसलिए गान्धी इन पंक्तियों के विषय मे कहते हैं कि "उनके अद्वैत सिद्धान्त को मैं मानता हूं सही, लेकिन—

तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः

कहते संकोच होता है क्योंकि उतनी साधना अभी पूरी नही हुई है[*]।"

गान्धी आधाराधेय संबन्ध को मानते हैं। साधना के पूरी होने पर वे आत्मा और जीव के बीच अभेद सबन्ध को भी मानने को तैयार है। अतः अभेद संबंध संभव है, और आदर्श है पर आधाराधेय सबन्ध यथार्थ है। जो लोग अभेद संबन्ध मानते हैं वे विश्व, तैजस और प्राज्ञ को मिथ्या कहते हैं। उनके अनुसार जीव आत्मा में मिथ्या-स्वरूप नहीं है, बल्कि जीव के कतिपय तत्त्व, जीव के आधारभूत तत्त्व, आत्मा में मिथ्या-स्वरूप हैं। वस्तुतः आत्मा भी तो जीव का आधारभूत तत्त्व है। बिलकुल असंदिग्ध भाषा में कहें तो हम कह सकते हैं कि आत्मा के अभाव मे जीव मिथ्यास्वरूप है, या आत्मा के अभाव में प्राणतत्त्व मिथ्यास्वरूप है। प्राणतत्त्व व्यष्टि है, आत्मा समष्टि या सामान्य है। सामान्य के अभाव में व्यष्टि का अस्तित्व नही है। व्यष्टि का अस्तित्व सामान्य में ही है, प्राणतत्त्वका अस्तित्व

आत्मा या ब्रह्म में ही निगूढ़ है। गान्धी इसी सिद्धान्त को मानते है।

(२) आत्मा और जीव के सबन्ध को पंचमहाभूतों और काल के माध्यम से वर्णन करने पर यद्यपि इसके ज्ञान मे बहुत निश्चितता नहीं आती तो भी पर्याप्त स्पष्टता आ जाती है।

(क) जल की दृष्टि से इस संबन्ध को बतलाते हुए गान्धी ने कहा—"होने का अर्थ है ईश्वर से—परमात्मा से—सत्य से पृथक् हो जाना। कुछ का मिट जाना परमात्मा में मिल जाना है। समुद्र मे रहने वाला विन्दु समुद्र की महत्ता का उपभोग करता है, परन्तु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्र से अलग होकर ज्यों ही अपनेपन का दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवन को पानी के बुलबुले की उपमा दी गयी है, इसमें मुझे जरा भी अतिशयोक्ति नही दिखाई देती[१०]।"

यहाँ जीव की उपमा समुद्र की बूंद से दी गयी है। जब तक विन्दु समुद्र में रहता है तब तक उसे 'अपनेपन' का ज्ञान या अनुभव नही होता। जब वह समुद्र से अलग होता है तब उसे 'अपनेपन' का अनुभव होता है। तब वह विन्दु बनता है, समुद्र मे उसको कोई विन्दु कहता-समझता ही नहीं है। पर अलग होते ही वह सूख जाता है अर्थात् उसका अस्तित्व मिट जाता है। यही बात जीव और आत्मा के संबन्ध में भी है। जीव जब तक आत्मा मे रहता है तब तक उसे कोई जीव नही कहता। आत्मा से निकलने पर जीव को अपनेपन का अनुभव होता है। तब उसे जीव कहा जाता है। पर वस्तुतः तब उसका कुछ भी अस्तित्व नहीं है। इसलिए उसको नष्ट-अस्तित्व मान लेना ही उपयुक्त है।

पर इसका यह तात्पर्य न लगाना चाहिए कि जीव आत्मा में रहकर अपना कर्म नही कर सकता। जीव आत्मा से निकलकर ही अर्थात् अलग रह-कर अपना कर्म नही कर सकता। आत्मा मे रहता हुआ तो वह अपना कर्म बड़े अच्छे ढंग से करता है। इसलिए गान्धी ने कहा—"समुद्र से अलग हो जाने वाले विन्दु के लिए हम आराम की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु समुद्र मे रहने वाले विन्दु के लिए आराम कहाँ? समुद्र को एक क्षण के लिए आराम कहाँ मिलता है? ठीक यही बात हमारे संबंध में है। ईश्वर-रूपी समुद्र मे हम मिले और हमारा आराम गया, आराम की आवश्यकता भी जाती रही[१०]।" और "ईश्वर स्वयं चौबीसों घण्टे एक सांस काम करता रहता

है। अंगड़ाई लेने तक का अवकाश नहीं देता। हम उसके हो जायँ, उसमें मिल जायँ तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतन्द्रित हो गया—हो जाना चाहिए[११]।"

यहाँ स्पष्ट है कि जीव और आत्मा में आधेयाधार संबन्ध किया गया। कुछ लोग कहेंगे कि यहाँ अङ्गाङ्गि संबन्ध है क्योंकि समुद्र अंगी और बिन्दु अंग है, आत्मा अंगी है और जीव अंग है। पर यह गान्धी को ठीक ही मान्य नहीं है क्योंकि जब अंग से अंगी अलग हो तभी तो वह अंग बनता है, जब समुद्र-रूपी आत्मा से बिन्दु-रूपी जीव, अलग हो तभी तो उसका जीवत्व बनता है. बिना अलग हुए न उसे अपनेपन का अनुभव होता है और न दूसरों को हो सकता है। अतः इस संबंध को अंगाङ्गि संबन्ध न कहकर हम आधाराधेय संबन्ध ही कहेंगे। बिन्दु समुद्र में रहता है पर समुद्र-रूप से समुद्र-कार्य करते हुए। जीव आत्मा में आत्मा के रूप से आत्मा का कर्म करता हुआ रहता है।

आत्मा का क्या कर्म है? क्या आत्मा कर्म करती है? इन प्रश्नों पर हम बाद में विचार करेंगे। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि गान्धी के अनुसार आत्मा परमार्थ करती है और यह परमार्थ उसका स्वार्थ भी है।

(ख) तेज या अग्नि की दृष्टि से गान्धी ने आत्मा और जीव के संबन्ध को बतलाते हुए उर्दू की एक प्रसिद्ध कविता का उद्धरण किया—

"आदम को खुदा मत कहो आदम खुदा नहीं।
मगर खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं"।[१२]

आदम या मनुष्य अर्थात् जीव खुदा या परमात्मा नहीं है। मगर वह परमात्मा के प्रकाश से पृथक् भी नहीं है।

इस प्रसंग में गान्धी-दर्शन को द्वैताद्वैती तथा सगुण-ब्रह्मवादी निम्बार्क के दर्शन की भाँति समझाने वाले डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त ने कहा—

"इस स्थान पर हमें फिर गान्धी की पसंद द्वैत-अद्वैत-संबन्ध के किसी उस प्रकार के पक्ष में मिलती है जिसका समर्थन वैष्णव वेदान्ती और अर्वाचीन काल में रवीन्द्रनाथ टैगोर विविध ढंग से करते हैं। शंकर के अनुयायी केवलाद्वैत के पोषक हैं। गान्धी मनुष्य और ईश्वर-संबन्धी अपने विचारों को क्रियाशील और गतिशील रखने का प्रयत्न करते हैं, इस कारण वे ईश्वर को शक्ति,

जीवन, आदि के रूप मे सोचते है ताकि उससे सृष्टि, अवतार और अनुग्रह की बहुमुखी विचार-सरणियों को मान्यता मिले[13]।"

डा० दत्त का कहना है कि गान्धी के अनुसार जीव आत्मा से भिन्न और अभिन्न दोनो है। इसे शंकर भी कुछ हद तक मानते हैं; इसीलिए तो वे जीव को सत् और असत् दोनो से अनिर्वचनीय कह कर माया करार देते है।

हमारी समझ से शंकर का कोई भी अनुयायी मनुष्य को ईश्वर नहीं कहता है, जीव को आत्मा नहीं कहता है। शंकर का वस्तुतः सिद्धान्त है कि जीव का स्वतः अस्तित्व नही है और जीव का आधार आत्मा है। जब कहा जाता है कि वह तू ही है (तत्त्वमसि) या सोहमस्मि (मैं वही हूँ) तो यहाँ यह मतलब नही है कि मनुष्य ईश्वर है। यहाँ मतलब है कि मनुष्य का आधार ईश्वर है, उस आधार को प्राप्त करने पर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, तब ईश्वर ही एकमात्र रहता है। तत्त्वमसि, सोहमस्मि तथा इस प्रकार के अन्य वाक्य वस्तुतः ईश्वर ईश्वर है, ब्रह्म ब्रह्म है, आत्मा आत्मा है, यह अर्थ देते है।

सवाल यह है कि क्या आदम में खुदा का नूर नहीं है? वस्तुतः आदम की नींव ही खुदा के नूर पर है। इसीलिए कहा गया कि 'मगर खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं'। जब कहा गया कि आदम खुदा नही है तो इसका मतलब यह है कि मनुष्य ईश्वर नहीं है। जीव आत्मा नहीं है। अतः गान्धी के इन वचनों का अद्वैत-दर्शन से विरोध नही है।

पर सवाल अब भी बना हुआ है कि क्या इन्सान खुदा से मिलने पर इन्सान रहता है? डा० दत्त का अभिप्राय लगता है कि उनके अनुसार गान्धी का मत है कि ईश्वर-प्राप्ति के अनन्तर भी इन्सान इन्सान बना रहता है। किन्तु समुद्र और विन्दु वाले दृष्टान्त से हम कह सकते हैं कि यह असंभव है। समुद्र को प्राप्त करने पर विन्दु विन्दु नहीं बल्कि समुद्र हो जाता है। कुछ लोग कहेंगे कि वाह साहब! क्या समुद्र में विन्दु नहीं रहता? विन्दु तो वहाँ रहता ही है। इसका उत्तर यह है कि विन्दु तभी रह सकता है जब विन्दु का अपनापन हो। समुद्र में विन्दु का अपनापन नहीं है। यही हाल जीव का भी है। भिन्नता का मतलब ही है पृथक् होना। गान्धी ने स्पष्ट कह दिया कि 'होने का अर्थ है ईश्वर से, परमात्मा से, सत्य से—पृथक् हो जाना' यह होना गान्धी के अनुसार भी मिथ्या है। इसका विवेचन सविस्तार हम बाद में करेंगे। गान्धी यह सदैव मानते हैं कि जगत् मे जो कुछ है वह ईश्वर से व्याप्त है। अतः पृथक् होना केवल कपोल-कल्पना है।

इस कारण जीव और आत्मा का सबन्ध द्वैताद्वैतवाद के अनुसार नही, किन्तु अद्वैतवाद के अनुसार है। यदि हम समुद्र को अनगिनत बिन्दुओ का महायोग ही कहे तो भी हमें यह मानना पड़ेगा कि ये सकल बिन्दु परस्पर एकमेव होकर, एकरस—समरस हो गये है, यहाँ तक कि किसी का पृथक् रहना संभव नही है। जब जल जैसे पदार्थ की यह एकरस एकता है तो ज्ञान-विज्ञान के समुद्र के एकता के विषय मे कहना ही क्या है ? वह तो और भी एकरस होगा ? इस कारण उसको केवल अद्वैत कहना ही उचित है। द्वैत और अद्वैत का योग उसे कहना किसी प्रकार से भी न्यायसगत नही है। प्रतीत होता।

प्रकाश जीव और आत्मा के सबध के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करता है। प्रकाश सदा एकरूप रहता है। उसमे बिन्दु नही होते। उपर्युक्त उर्दू पद्य का पूरक रैदास की निम्नलिखित पक्तियाँ हैं जो गान्धी की आश्रम भजनावलि मे शामिल है :—

प्रभु जी तुम दीपक हम बाती
जाकी जोति बरै दिन राती ॥[१४]

आत्मा या परमात्मा दीपक है। जीव उसकी बत्ती है ! बत्ती जल रही है, प्रकाश हो रहा है। जीव के अस्तित्व का, बत्ती के अस्तित्व का, लय हो रहा है, पर दीपक का प्रकाश बढ रहा है। आदम खुदा का नूर है पर वह अपनी इन्सानियत या अपना आदमपन जलाकर, मिटाकर, ही खुदा का नूर बना है। खुदा निःसन्देह जीव या आदम के द्वारा ही प्रकाशित होता है। दीपक जल नहीं सकता यदि बत्ती न हो, तो भी बत्ती अपने को मिटाकर ही प्रकाश देती है। दीपक प्रकाश का पर्याय है। यह न समझना चाहिए कि दीपक का मतलब सिर्फ तेल रखने वाला कटोरा या शराव है।

इसी बात को मंसूर की निम्नलिखित पक्तियों सिद्ध करती है जो गान्धी की आश्रम भजनावलि मे संगृहीत हैं :—

अगर है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा॥

....

न हो मुल्ला, न हो बम्मन, दुई को छोडकर पूजा।
हुक्म है शाह कलन्दर का, 'अनहलक' तू कहाता जा॥[१५]

इससे जाहिर है कि जीव और आत्मा के अभद-सबन्ध की ओर ही जी को प्रेरित करना चाहिए। अनलहक अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूं, य खुदी, जीवत्व को नष्ट कर देने पर ही संभव है।

आश्रम भजनावलि की निम्नलिखित पंक्तियाँ तो साफ तौर से कहते हैं कि ईश्वर-प्राप्ति में जीव का जीवत्व टिक नहीं सकता—

तेरी पाक सीरत का आशिक हुआ जो।
वही रँग रंगा फिर जो तूने रंगाया॥
है गुमराह, जिस दिल मे बाकी खुदी है।
मिला तुझसे जिसने खुदी को गँवाया॥[१६]

इन पंक्तियो से शायद अब यह संशय दूर हो जायगा कि गान्धी के अनुसार ईश्वर-प्राप्ति मे जीव का अस्तित्व रहता है, या जीव और ईश्वर मे द्वैत-अद्वैत का संबन्ध है। यदि किसी को कुछ शका हो तो उसे यह सम-झना चाहिए कि वस्तुतः उस संबन्ध को समझाने के ये दृटान्त है। अत इनके अर्थ की खीचा तानी न करनी चाहिए। जो सीधा अर्थ यहाँ दिया गया है, वह खीचा-तानी से दूर है और सर्वमान्य है। गान्धी बार-बार कहते हैं कि हम इस सबन्ध को अपनी भाषा मे व्यक्त करते हैं इसलिए खामी रह ही जाती है। ईश्वर भी इस संबन्ध को अगर हमारी भाषा मे व्यक्त करे तो खामी रह जायगी। इसलिए हमे इस खामी को ध्यान मे रखते हुए जीव और आत्मा के सबन्ध को समझना है। प्रत्येक दृष्टात का मुख्य अभिप्राय क्या है, यही हमारे लिए ग्राह्य है।

(ग) पृथ्वी की दृष्टि से इस सबन्ध को गान्धी ने यों व्यक्त किया है—"इस अनंत आकाश में पृथ्वी एक रजकण के समान है और उस रजकण पर हम तो रजकण के भी ऐसे तुच्छ रजकण है कि उसकी कोई गिनती ही नही हो सकती। इस प्रकार शरीर-रूप से हम शून्य है, यह कहने मे तनिक भी अतिशयोक्ति या अल्पोक्ति नही है। हमारे शरीर के साथ तुलना करते हुए चींटी का शरीर जितना तुच्छ है पृथ्वी के साथ तुलना करने में हमारा शरीर उससे हजारो गुना तुच्छ है[१७]।" और 'ससार मे जीवमात्र एक रजकण की अपेक्षा अधिक कुछ नही है[१८]।"

यहाँ जीव को रजकण और आत्मा को अनन्त ब्रह्माड की उपमा दी गयी

। रजकण-रूपी जीव स्वतः शून्य है—यह कहने में जरा-सी भी अतिशयोक्ति नहीं है।

पृथ्वी का गुण गन्ध माना गया है। इस दृष्टि से जीव और आत्मा के सबंध पर प्रकाश डालने वाली नानक की निम्नलिखित पंक्तियाँ आश्रम भजनावलि से ली जा सकती हैं :—

पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर माँहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसैं निरंतर, घट खोजो भाई ॥[१९]

अर्थात्

आत्मा जीव में वैसे ही निवास करती है जैसे गन्ध पुष्प में। क्या गन्ध के अभाव में पुष्प संभव है ? कदापि नहीं। कुछ लोग कुछ पुष्पों को गंधहीन कहेंगे, पर वैज्ञानिक दृष्टि से यह मिथ्या है। सभी पुष्प पार्थिव होने के कारण अवश्य गन्धधर्मा होंगे। फिर यहाँ यह कहा जा सकता है कि आखिर पुष्प का तो अस्तित्व है ही ? इसका उत्तर यह है कि इस दृष्टान्त का सिर्फ इतना अभिप्राय है कि जीवमात्र में आत्मा व्याप्त है, अतः आत्मा का अभाव न रहने के कारण जीव का जीवत्व संभव है।

घ) वायु की दृष्टि से आत्मा और जीव का सबन्ध बताते हुए गान्धी ने भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक को प्रमाणभूत समझा—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥[२०]

अर्थात्

जीव को आत्मा या परमात्मा के साथ जोड़ने का प्रयत्न करने वाले स्थिरचित्त योगी की स्थिति वायु-रहित स्थान मे अचल रहने वाले दीपक की सी कही गयी है।

जीव और आत्मा के संबंध के प्रसंग में जीव की निश्चलता का अभिप्राय है कि वह बिलकुल जीवत्व खोकर आत्मा में लीन हो गया है।

वायु का गुण स्पर्श है। स्पर्श की दृष्टि से जीव आत्मा को छूते ही आत्मा हो जाता है। प्रमाण के लिए आश्रम भजनावलि से आनन्दघन की ये पंक्तिर ली जा सकती है :—

परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
जिहिं विधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निकर्म री ॥[२१]

यदि हम इस संबन्ध मे किसी भी प्रकार के स्पर्श या संयोग का विचा करें तो हमे इन पंक्तियो को ध्यान में रखना चाहिए । आत्मा के संबन्ध । संस्पर्श मे आते ही जीव जीव नहीं रह सकता, वह आत्मा या ब्रह्म । जायगा ।

(ङ) आकाश की दृष्टि से आत्मा और जीव के संबन्ध पर गीता क निम्नलिखित श्लोक प्रकाश डालता है जो गान्धी को स्वीकार्य है ही—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।[२२]

अर्थात्

"जिस प्रकार सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नही होता, वैसे सब देह मे रहने वाला आत्मा लिप्त नहीं होता[२३] ।"

यहाँ यह दिखलाया गया है कि जीव मे रहने पर भी, जीव का आधार होने पर भी, आत्मा जीव से लिप्त नही होती है । वह जीव से असंग है । वस्तुत: दोनों का संस्पर्श या संयोग नही होता है । यह इस संबन्ध की बड़ी विशेषता है जो अन्य किसी संबन्ध मे नही पायी जाती ।

(च) इस संबन्ध पर काल की दृष्टि से प्रकाश डालते हुए गान्धी ने कहा—"हम सब नास्ति हैं । हम कहें जब हम जिंदा रहते हैं तो नास्ति कैसे हो सकते हैं ? आज तक तो मैं जिंदा रहा, लेकिन कल के लिए मुझे कोई नहीं बता सकता कि रहूँगा या नही । ऐसे ही कल-कल करके ७८ वर्ष निकाल दिए । और भी शायद दो-चार दिन निकाल दूँ लेकिन हम क्या जानें; मैं कैसे कह सकता हूँ कि कोई आदमी अभी जिंदा है तो वह एक मिनट बाद भी जिंदा रहेगा या नही, कोई नही कह सकता । इसलिए मैं कहता हूँ कि हम तो नास्ति है: जिसका कोई ठिकाना नही है । 'अस्ति' वह तो एक ही हो सकता है । "अस्ति के माने है आदि है, अनादि है, और आयंदा रहेगा[२४] ।"

और

'काल के अनन्त चक्र में सौ वर्ष का हिसाब किया ही नही जा सकता; परन्तु यदि हम इस चक्कर से बाहर हो जायँ, अर्थात् 'कुछ नहीं हो जायँ' तो हम सब कुछ हो जायँ[२५] ।"

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि काल की दृष्टि से भी जीव का कुछ अस्तित्व नही है । काल-चक्र के बाहर रहने मे जीव का अस्तित्व बिलकुल नष्ट हो जायगा, पर वह आत्मा हो जायगा जो वस्तुतः सब कुछ होता है ।

(३) इन वर्णनों के आधार पर हम कह सकते है कि आत्मा और जीव केवल आधाराधेय ही नहीं है, वरन् जीव की अपनी कुछ सत्ता नही है। उसका प्राणतत्त्व आत्मा का ही देह मे प्रतिबिंब जान पडता है। एक जगह गान्धी इसका उल्लेख भी करते हैं :—

"इन्सान ऐसा बना है कि अगर वह अपने बनाने वाले को समझ ले कि मैं उसी भगवान् का प्रतिबिम्ब हूँ तो दुनिया की कोई ताकत उसके स्वमान को छीन नही सकती[२६]।"

यदि इन्सान या प्राणतत्त्व प्रतिबिम्ब है तो आत्मा बिम्ब हुआ। फिर इन दोनो का संबन्ध बिंब-प्रतिबिम्बवाद हुआ। अद्वैत वेदान्त मे ही यह सिद्धान्त मिलता है—यह कहना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

पर बिंब-प्रतिबिंबवाद मे अनेक कठिनाइयाँ जान पडती है। यदि प्राण-तत्त्व आत्मा का प्रतिबिंब है तो फिर आत्मा का साकार होना अवश्यंभावी है : वह तब निराकार नही हो सकती।

चूँकि गान्धी आत्मा को साकार मानते हुए भी निराकार मानते है, अतः वे बिंब-प्रतिबिंबवाद का समर्थन कर सकते हैं। पर जैसे आत्मा सर्वाकार होते हुए भी निराकार है, वैसे हमें उसके अनुसार आत्मा और जीव का संबन्ध भी बैठाना चाहिए। इस दृष्टि से सोचने पर गान्धी का इस प्रसग मे एक और मत मिलेगा जो यहाँ आगे पृथक् रूप से बताया जायगा।

(४) वह मत निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त है—

'हम तो भगवान् के हाथ के खिलौने हैं। वह हमें अपने इशारे पर नचाता है। इसलिए आदमी ज्यादा-से-ज्यादा यही कर सकता है कि वह इस नाच में कोई रुकावट न डाले और अपने भगवान् की इच्छा को अच्छी तरह पूरा करे[२७]।"

यहाँ आत्मा को भगवान् कहा गया है। जीव या प्राणतत्त्व आत्मा का खिलौना समझा गया है। जब हम लोग प्राकृतिक उपकरणों से चल खिलौने बना सकते है तो आत्मा क्यो नहीं इन्हीं उपकरणो से प्राण-तत्त्व को बना सकती है ? अवश्य बना सकती है। प्राण-तत्त्व वस्तुत. आत्मा के क्रीड़ा की सामग्री है। आत्मा और जीव के इस संबन्ध को हम 'पुतलीवाद' कहेंगे क्योंकि इस लीला में जो जीवरूपी उपकरण हैं, वह स्वतः मिथ्या है या पुतली-मात्र है।

यहाँ कुछ लोग आपत्ति करेंगे कि यदि जीव महज आत्मा का खिलौना है, तो फिर उसका दायित्व कुछ नहीं है, उसको स्वतन्त्रतापूर्वक वरण करने की सामर्थ्य नही है। इसका उत्तर यह है कि सच्ची स्वतन्त्रता सदैव स्वभाव से नियन्त्रित रहती है। वह स्वच्छन्दता नहीं, किन्तु स्वतन्त्रता या स्वनिर्धारितता है। चूंकि प्रत्येक जीव-रूपी खिलौने मे आत्मा है और यही उस जीव का मूल बिंब, मूलाधार और मूल मेरुदण्ड है इसलिए उसकी स्वतन्त्रता इसी के निर्धारण मे है। जीव आत्मा के कर्म मे, क्रीड़ा में, योग दे, यही उसकी स्वतन्त्रता है यही उसका दायित्व है। यही परमार्थ-बुद्धि है।

परमार्थ-बुद्धि का ऐसा अर्थ कर लेने से परमार्थ-बुद्धि द्वारा निर्धारित कर्म करने मे सदैव जीव आत्मा के साथ अपने वास्तविक संबन्ध का अनुभव करेगा।

(५) अभी तक हम देह तत्त्व को छोड़े हुए हैं। प्राणतत्त्व को हमने आत्मा का आधेय, आत्मा का प्रतिबिम्ब, और आत्मा की पुतली कहा। विचार करने पर ज्ञात होगा इन तीनो सिद्धान्तों में कोई विरोध नही है। यदि प्राणतत्त्व प्रतिबिंब है तो निःसन्देह बिम्ब-रूपी आत्मा उसका आधार है और वह उस पर आधेय है। इस तरह आधाराधेयवाद का ही विकसित रूप बिंब-प्रतिबिंबवाद है। फिर यह कोई आवश्यक नही कि आधार अपने को प्रतिबिंबित करे। अतः वह अन्यथा भी अपना कर्म कर सकता है। वह क्रीड़ा कर सकता है, आनंद उठा सकता है। इस काम के लिए वह देह-तत्त्व का उपयोग कर सकता है। वह क्रीड़ा मे, आनंद मे, देह-तत्त्व से जो कुछ बनायेगा, एक प्रकार से वह उसका प्रतिबिंब भी हुआ क्योंकि वह अपनी सोच-समझ के अनुसार ही, अपने रूप या स्वभाव के अनुसार ही बनायेगा। इस प्रकार पुतलीवाद वस्तुत आधाराधेयवाद और बिंब-प्रतिबिंबवाद को ही समन्वित करके आगे बढ़ता है। पुतलीवाद से वैष्णव दार्शनिकों के लीलावाद का भ्रम न होना चाहिए क्योंकि उनके मत से लीलावाद मे जीव पुतली नही, मिथ्या नही, किन्तु वस्तुतः सत् है, स्वयमेव सत्तावान् है।

यहाँ यही दिखलाया गया है कि जीव और आत्मा मे अभेद का संबन्ध होते हुए भी जब तक हम अपने को पृथक् अनुभव कर रहे हैं, तब तक हम इन दोनो मे आधाराधेयवाद और बिंब-प्रतिबिंबवाद को आत्मसात् करने वाले पुतलीवाद के संबन्ध को माने। हमारी परमार्थ बुद्धि भी यही कहती है।

पर यद्यपि हम किसी विशेष जीव के व्यक्तित्व में पुतलीवाद का संबन्ध मानते हैं, तथापि सभी जीवों के पारस्परिक संबंध को हम ऐसा नही मान सकते ।

५ देहधारी जीवों का पारस्परिक संबन्ध

सभी जीवों मे अभेद संबन्ध है । नानात्व मिथ्या है । उन सब में एक ही आत्मा निवास करती है । इस प्रसंग मे गान्धी कट्टर अद्वैतवादी हैं और वे आभासवादी प्रतीत होते है । सभी जीवो के नाना प्राणतत्त्व वस्तुतः आभासमात्र हैं । सत्य यह है कि उनके देह अनेक तथा विभिन्न हैं, पर उन सब की आत्मा एक ही है । देह-दृष्टि से वे नाना हैं; पर आत्मा की दृष्टि से, प्राणतत्त्व की दृष्टि से, परमार्थ बुद्धि की दृष्टि से वे सब एक हैं । उनमे से प्रत्येक की आत्मा एक और अद्वैत आत्मा है । उन सभी का प्राणतत्त्व इसी आत्मा की पुतली है । उन सभी की परमार्थ-बुद्धि प्राणतत्त्व को सशरीर आत्मा की ओर उन्मुख करने में लगी है ।

गान्धी जब छुआछूत के निराकरण का, भूतदया का, प्राणिमात्र के प्रति अद्वैतभावना का और सब के प्रति समानता का, पाठ पढाते हैं तो वे इस अद्वैतवाद को अपना परम सिद्धान्त मान लेते है और अपने को कट्टर अद्वैत-वादी कहने में गर्व करते हैं । वे कहते हैं—

(क) "मैं अद्वैत के बुनियादी सिद्धान्त में विश्वास करता हू और अद्वैत की मेरी व्याख्या उच्चता के किसी भी अर्थ को पूर्णतया बहिष्कार करती है । मेरा अटल विश्वास है कि सभी मनुष्य जन्मना समान हैं । सभी मे वे चाहे भारत मे पैदा हों या अमरीका मे इंग्लैंड में या चाहे किन्हीं परिस्थितियो मे पैदा हो, वही एक आत्मा रहती है[२८] ।"

यहां गान्धी ने एकात्मवाद या आत्माद्वैतवाद का समर्थन कट्टर अद्वैत-वादियो से भी बढकर किया क्योंकि कट्टर अद्वैतवादी अधिकारिभेद मानते हुए शूद्रों को वेद-वेदांत पढने से वर्जित करते है । गान्धी अधिकारि-भेद मानते हैं, पर वे शूद्रों को वेद पढने से मना नही करते । वे ठीक ही ऊँच-नीच की भावना को अद्वैत की विरोधिनी कहते हैं । वे कहते हैं "सब की आत्मा एक ही है । सब की आत्मा की शक्ति भी समान है । अन्तर इतना ही है कि कुछ की शक्ति प्रकट हो चुकी है, दूसरों की शक्ति का प्रकट होना अभी बाकी है । प्रयत्न करने से उन्हे भी वही अनुभव होगा[२९] ।"

कहना नहीं होगा कि शंकराचार्य—जैसे प्रचण्ड अद्वैती के होते हुए भी देश में अद्वैतवाद के अन्दर अपशूद्राधिकरण और ऊँच-नीच की भावना फैली थी। गान्धी ने इसको भी दूर कर अद्वैतवाद मे शंकराचार्य के महासेनानी का कार्य किया है। सिद्धान्ततः जो कार्य शंकराचार्य ने किया था, व्यवहारतः उसी कार्य को गान्धी ने किया और दिखला दिया कि सामूहिक रूप से अभ्यास करने पर भी शंकराचार्य का अद्वैतवाद उपयुक्त है। शंकराचार्य अपने सिद्धान्त को व्यवहार मे अच्छी तरह से उतार नही पाये थे। शंकराचार्य का सिद्धान्त और गान्धी का व्यवहार दोनो एक ही अद्वैतवाद-रूपी सिक्के की दो पीठें है जिन पर भारत के भावी समाज को खड़ा होना है।

(ख) फिर गान्धी कई स्थलो पर कहते हैं कि मेरा विश्वास है कि सब का प्राणतत्त्व या जीवन एक है[२०]।

इस प्रकार जीवमात्र मे केवल आत्माद्वैत ही नही वरन् प्राणतत्त्वाद्वैत मानकर गान्धी ने सिद्ध कर दिया कि उनका मत शाकर अद्वैतवाद ही हो सकता है क्योंकि अन्य किसी वेदान्त या दर्शन में आत्मा और जीवन के अद्वैतवाद का यह सिद्धान्त नही मिलता है। अन्य मत के सभी दार्शनिको के अनुसार जीवो में जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न है, उनके जीवन-तत्त्व भिन्न-भिन्न है।

कहना नही होगा कि गान्धी का सिद्धान्त तात्त्विक दृष्टि से आत्माद्वैतवाद और एकजीवाद है। अद्वैत वेदांत की यही पारिभाषिक पदावली है। इतना ही नही आत्मा और जीव का संबन्ध भी, 'पुनर्जीवाद' भी अद्वैत वेदांत का ही अद्यतन विकसित सिद्धान्त है।

अभी तक हमने जो कुछ समझा है उसके अनुसार हम गान्धी के आत्मा-और देह विषयक संबंध पर कुछ नही कह पाये हैं। और न यही बता पाये हैं कि देह क्या है ? अब हम आगे इसका निरूपण करेंगे।

टिप्पणियां और सन्दर्भ

१ धर्मनीति पृ० १३४।
२ वही पृ० ४७।
३ Hindu Dharma पृ० ६४।
४ प्रार्थना प्रवचन भाग एक पृ० ७४।
५ आत्मकथा पृ० १७१।
६ वही पृ० १५३-१५४।

७ आश्रम भजनावलि पृ० ३२ ।
८ वही पृ० २ ।
९ वही पृ० ४ ।
१० धर्मनीति पृ० १६६-१६७ ।
११ वही पृ० १६९ ।
१२ वही पृ० ५३ ।
१३ The Philosophy of Mahatma Gandhi, Dr. D. M. Datta, पृ० ९४ ।
१४ आश्रम भजनावलि पृ० ११४ ।
१५ वही पृ० १३२ ।
१६ वही पृ० १३५ ।
१७ धर्मनीति पृ० १९२ ।
१८ वही पृ० १६६ ।
१९ वही पृ० १०७ ।
२० भगवद्गीता ६।१९ ।
२१ आश्रम भजनावलि पृ० १२५ ।
२२ भगवद्गीता १३।३२ ।
२३ गीता-माता पृ० २२६ ।
२४ प्रार्थना-प्रवचन भाग एक, पृ० ३२७-२८ ।
२५ धर्मनीति पृ० १६६ ।
२६ प्रार्थना-प्रवचन भाग दो, पृ० २३० ।
२७ पन्द्रह अगस्त के बाद पृ० २३-२४ ।
२८ Hindu Dharma, पृ० ३६० ।
२९ अनीति की राह पर, पृ० ५६ ।
३० Hindu Dharma, पृ० २१३ ।

अध्याय ८

देह-तत्त्व और जगत्

१ देह का स्वरूप

देह जीवतत्त्व का अनिवार्य सहचर है। देह मे ही आत्मा के प्रतिबिंब के रूप में जीव रहता है, अथवा देह द्वारा ही आत्मा अपना खेल खेल रही है और उसकी खेल की अवस्था का नाम जीवतत्त्व है। देखना है कि यह देह किससे बना है।

(१) प्राकृतिक चिकित्सा के पक्के समर्थक के रूप मे गान्धी देह को पाँच महाभूतो से बना हुआ बताते हैं और कहते है कि इसका स्वास्थ्य इन्हीं पाँच महाभूतों के स्वच्छ उपयोग पर निर्भर है[१]।

कबीरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ जिनको गान्धी बहुधा कहा करते थे देह के स्वरूप और घटक का अच्छा वर्णन करती है—

झीनी झीनी बिनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी
कौन तार से बिनी चदरिया।।
इंगला पिंगला ताना भरनी
सुषमन तार ते बिनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोले
पाँच तत्त्व गुन तिनी चदरिया।।
साईं को सीयत मास दस लागे,
ठोक ठोक कै बिनी चदरिया।।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी
ओढ़ी कै मैली कीनी चदरिया।।
दास कबीर जतन से ओढ़ी,
ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।[२]

यहाँ चादर या चदरिया का मतलब देह है। इंगला, पिंगला और सुषुम्ना इसमें नाड़ियाँ है। इसके अन्दर आठ चक्र है जिन्हें योगी ही जान सकते हैं। यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों और सत्व, रज तथा तम इन तीन गुणों से बनी है। परमात्मा ने इसे लगभग दस मास में— गर्भ के दस मास में—ठोक-ठोक कर बिना है। सुर, नर, मुनि, आदि सभी इस देह को पाते हैं। कबीर को भी यह देह मिली। अन्य लोग इस देह को लेकर इसके घटकों, तत्त्वों को गन्दा कर डाले है, नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं। कबीरदास ने इसे स्वच्छ और सुरक्षित रखा। उन्होंने इसको न गन्दा किया और न नष्ट किया।

अभिप्राय यह है कि देह के घटक नित्य हैं। महादेव देसाई ने देह के इन घटकों को समन्वित रूप देने के लिए सांख्य के प्रकृति-परिणाम को स्वीकार किया है। और इसमें उनका अभिप्राय है कि यह मत गान्धी की विचार-धारा के अनुकूल है।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। वह सत्व, रज और तम की साम्यावस्था है। आत्मा या परमात्मा के साहचर्य के कारण उसमें गति आती है। गति से उसका विकास होता है। पहले उससे महत्-तत्त्व या बुद्धि निकलती है। बुद्धि से अहंकार निकलता है। अहंकार से मन, इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ) और पाँच तन्मात्राएँ निकलती है। पाँच तन्मात्राएँ हैं शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा। इनसे क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी विकसित होते है। फिर इन्हीं पंच महाभूतों से, समस्त संसार विकसित होता है। चेतन पदार्थों में मन और इन्द्रियाँ रहती हैं। अचेतन में केवल महाभूत रहते है।

इस दृष्टि से देह प्रकृति का विकास है। यह प्रकृति जड़ पदार्थ है। महत्, अहंकार, मन और ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों में जो चेतना रहती है वह प्रकृति के कारण नहीं, वरन् परमात्मा या आत्मा के कारण रहती है क्योंकि वह प्रकृति के साथ सदा सम्पृक्त है। अतः प्रकृति को ही हम देह का आदि रूप कहेंगे। देह का धर्म है जन्म लेना, रहना, बढ़ना, परिवर्तन करना, घटना और नष्ट होना। इसी को यास्क ने कहा—

देहो जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति।

यहाँ देह के रूप का ही जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और नाश समझना चाहिए। देह के घटकभूत तत्त्वों का नाश नहीं होता है। देह के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश के अंश अपने-अपने भूतों में जाकर मिल जाते है, जब कि देह के रूप का नाश होता है। इसको हम विघटन या लय कहते हैं। जब देह का जन्म होता है तो भूतों के कणों का संघटन देह-रूप में हो जाता है। इस संघटन का फिर परिवर्तन-परिवर्धन और अपक्षय तथा नाश होता रहता है।

देह के जन्म का अर्थ है पंचमहाभूतों के कणों का आनुपातिक ढंग से सघटन। देह की मृत्यु का अर्थ है इस सघटित रूप का विघटन।

(२) शरीर-विज्ञान इस युग मे अत्यन्त विकसित हो गया है। उसकी दृष्टि से शरीर जीव-कोषों या शुक्र-कोषों से बनता है। पुरुष के शरीर की सघटना पर प्रकाश डालते हुए गान्धी ने कहा—

"शुक्र-कोषों का केन्द्रीय भंडार प्राण का आदिम और मूलभूत अधिष्ठान है। भ्रूण या गर्भ आरभ से ही, माता की देह मे बनने वाले रसो से पुष्ट होकर, प्रतिक्षण बढ़ता है। शुक्र-कोषो का पोषण ही यहाँ भी जीवन का नियम दिखाई देता है। गर्भ के शुक्र-कोषो की संख्या ज्यो-ज्यों बढ़ती है और उनमे कुछ भिन्नता पैदा होने लगती है, वे आवश्यकतानुसार नये रूप और नये कार्य ग्रहण करने लगते हैं। स्थूल अर्थ मे जन्म-ग्रहण, माँ के पेट से बाहर आने से इस क्रिया मे थोड़ा ही अन्तर पड़ता है, पहले शुक्र-कोष की पोषण की सामग्री नाल के द्वारा मिलती थी, अब होंठो और मुँह के रास्ते मिलती है। कोषों की वृद्धि अब तेजी से होती है और सारे शरीर में जहाँ कही निकम्मे तन्तुओ की जगह नए तन्तु बनाने की आवश्यकता होती है, वहाँ पहुच जाते हैं। रक्तवाहिनी नाडियाँ इन कोषों को अपने आदि अधिष्ठान से लेकर देह के हर हिस्से में पहुँचती है। बड़े-बडे समूहों में वे खास-खास काम अपने ज़िम्मे लेते है और देह के भिन्न-भिन्न अंगो का निर्माण और मरम्मत करते हैं। वे जिस कोष-समुदाय की व्यष्टि हैं वह जीता रहे इसके लिए वे हजार बार मौत को गले लगाते हैं। ये सारे 'मुर्दे' शरीर की ऊपरी सतह पर आ जाते है और खासकर हड्डियों, दातों, खाल और बालों मे कड़ाई पैदा करके सारे शरीर का बल बढाते और उसकी रक्षा करते हैं। उनकी मृत्यु देह के उच्चतर जीवन और उस पर आश्रित सारी बातों का मूल्य हैं। वे आहार-ग्रहण,

नए कोषों का उत्पादन, विभाजन, भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँटकर भिन्न-भिन्न कार्यों का संपादन, और यह सब करके अंत में मर जाना बंद कर दें तो शरीर जी नहीं सकता[२]।"

बीज-कोषों या शुक्र-कोषों से दो तरह के जीवन की प्राप्ति होती है—(१) आन्तरिक या पुनर्जननरूप और बाह्य या जननरूप। इन दोनों का विवरण प्राणतत्त्व के प्रसंग में कर दिया गया है।

उपर्युक्त साख्य विकासवाद और शरीर-विज्ञान के देह-रचना के सिद्धान्त से देह की मृत्यु पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

२ मृत्यु का विचार

(१) "विज्ञान की दृष्टि से मृत्यु जीवन के अन्त में घटित होने वाली घटना नहीं है, बल्कि एक क्रिया है जो जीवन के साथ ही आरंभ होती है और प्रतिक्षण उनके साथ-साथ चलती रहती है। शरीर की छीज की पूर्ति अथवा पोषण और उसका क्षय जीवन और मरण की शक्तियाँ हैं जो एक-दूसरे के कदम-ब-कदम चला करती है। बचपन और चढ़ती जवानी के दिनों में जीवन की क्रिया दौड़ में आगे रहती है। प्रौढ़ावस्था में दोनों कदम-ब-कदम चलती हैं, पर जब उम्र ढलने लगती है तो मृत्यु की क्रिया आगे निकल जाती है और अन्त में निधन के क्षण में जीवन की शक्ति को पक्के तौर से पछाड़ देती है। इस जय-लाभ में सहायक होने वाली हर बात, जो उस घड़ी को एक दिन, एक बरस या एक दशक आगे खींच लाती है, मृत्यु की क्रिया है[४]।"

इस तरह सिद्ध है कि स्वाभाविक मृत्यु जीवन की कोई अलग, असंबद्ध घटना नहीं है, बल्कि एक निरन्तर चलती रहने वाली क्रिया है। इसी तथ्य को गीता का निम्नलिखित श्लोक प्रतिपादित करता है—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥[५]

अर्थात्

जो तू इसे नित्य जन्मने और मरने वाला माने, तो भी, हे महाबाहु, तुझे शोक करना उचित नहीं है।

देह नित्य मृत्युधर्मा है। उसकी मृत्यु पर तनिक भी शोक करना अज्ञान है।

(२) लैंकेस्टर कहते हैं—"आदि जीव (प्रोटोजोआन) का शरीर केवल एक कोष का होता है, और अपना वंश वह अपने शरीर के टुकड़े करके बढ़ाता है। इससे इस प्रकार के जीवों में मृत्यु कोई स्वाभाविक और साधारण घटना नहीं है[६]।"

इससे गान्धी यह निष्कर्ष निकालते जान पड़ते हैं कि प्राणतत्त्व अविनाशी है। यह भारतीय दर्शन का सिद्धान्त भी रहा है।

इसी मत को वीसमान के ये शब्द पुष्ट करते हैं :—

"स्वाभाविक मृत्यु केवल बहुकोषी जीवों में ही होती है एक कोष वाले जीव उससे बच जाते हैं। उनके विकास का कभी वैसा अन्त नहीं होता जिसकी तुलना मृत्यु से की जा सके, और यह भी जरूरी नहीं कि नये प्राणी के पैदा होने के लिए पुराने को मरना पड़े। विभाजन में दोनों अंश समान होते हैं, न कोई बूढ़ा होता है न कोई जवान। इस प्रकार व्यष्टि-जीवों की अनन्त श्रेणी चलती रहती है, जिसमें हर एक की वय उतनी होती है जितनी जाति की। हर एक में अनन्त काल तक जीते रहने की सामर्थ्य होती है, उसके टुकड़े सदा होते रहते हैं, पर मरता कभी नहीं[७]।"

(३) मृत्यु देह-धारण का मूल्य है। गान्धी इस विषय पर पैट्रिक गेडेस के शब्द उद्धृत करते हैं—

"हम कह सकते हैं कि मृत्यु देह-धारण का मूल्य है। वह कीमत हमें कभी-न-कभी चुकानी ही पड़ती है, देह से हमारा मतलब कोषों के उस जटिल संधान से है, जिसमें थोड़ा-बहुत अंग-भेद और कार्य-भेद विद्यमान हो[८]।"

लैंकेस्टर के शब्दों में "जनन का दण्ड मरण है। बहुतेरी जीव-योनियों में यह बात बिलकुल स्पष्ट है। वंश-रक्षा का उपाय करने में उनमें नर या मादा में से एक को अक्सर जान से हाथ धोना पड़ता है। सन्तानोत्पादन के बाद जीते रहना प्राण की विजय है, जो सदा नहीं होती। कुछ जीव-जातियों में तो कभी नहीं होती। गेटे ने मृत्यु पर लिखे हुए अपने निबंध में भली-भाँति दिखाया है कि जनन और मरण में कितना निकट का और अनिवार्य संबन्ध है। ये दोनों क्रियाएँ क्षय-क्रिया की वे मंजिलें कही जा सकती हैं जब स्थिति कोई पक्की करवट लेती है[९]।"

पैट्रिक गेडेस इसी को और स्पष्ट करते हैं :—"सन्तानोत्पादन और मृत्यु का संबन्ध निःसंदेह स्पष्ट है। पर आम बोल-चाल में इस लगाव को

रूप दे दिया जाता है । हम लोगों को यह कहते सुनते हैं कि प्राणी की मृत्यु अटल है इसलिए उसे बच्चे पैदा करने ही होंगे, नहीं तो जाति का नाश हो जायगा । पर पीछे के उपयोग की यह दलील आमतौर से हमारे दिमाग की बाद मे होने वाली उपज होती है। इतिहास हमें बताता है कि प्राणी इसलिए बच्चे नही पैदा करता कि उसे एक दिन मरना है, बल्कि वह बच्चे पैदा करता है इसलिए मरता है[10] ।''

(४) गेडेस के अनुसार ''ऊँची श्रेणी के जीवो मे वंश-वृद्धि के लिए होने वाला बलिदान बहुत कम हो गया है, फिर भी काम-वासना की तृप्ति के फलस्वरूप मे मौत होने का खतरा मनुष्य के लिए रहता ही है[11] ।''

इस प्रकार ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताना ही मृत्यु से बचना या मृत्यु को कम से कम दूर रखना है यह कहना यहाँ अप्रासंगिक न होगा । हमारे यहाँ भी इसीलिए कहा गया है कि मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात् अर्थात् वीर्यनाश मरण है और वीर्यलाभ जीवन है ।

मृत्युसम्बन्धी इस अनुशीलन का निष्कर्ष यह है कि मृत्यु जीवन का युगपद् साथी है । देह नित्य मृत्युधर्मा है ।

यही बात मूल प्रकृति या मूलभूत प्राकृतिक पदार्थ के विषय मे भी कही जा सकती है। वह नित्यजन्मा, नित्यमरण, है। इसी को दूसरे शब्दो मे कहा जाता है कि यह विपरिणामी या परिवर्तनशील है। मरने के बाद भी शरीर की पुन प्राप्ति होती है। गान्धी पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त को मानते हैं ''मुझे जितना विश्वास इस देह के अस्तित्व का है उतना ही दूसरी देह मिलने का भी है[12] ।''

३ देह के प्रकार

अभी तक हमने स्थूल देह का निरूपण किया। इस देह के अनन्तर सूक्ष्म देह या लिंग शरीर है। गान्धी इसको भी मानते है। सूक्ष्म देह स्वप्न के जीव की देह है। यह मनोवैज्ञानिक भावनाओं और संस्कारो की काया है। देहपात और पुनर्जन्म के बीच की अवस्था मे भी जीव का यही शरीर रहता है।

''जब जीव देह धारण करता है और तजता है तब, जैसे वायु अपने स्थल से गंधों को साथ लिये चलता है, यह जीव भी इन्द्रियों को साथ लिये हुए विचरता है। कान, आंख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मन इतनों का

सहारा लेकर जीव विषयो का सेवन करता है। गति करते हुए, स्थिर रहते हुए या भोग भोगते हुए गुणो वाले इस जीव को मोह में पड़े अज्ञानी पहचानते नही, ज्ञानी पहचानते हैं[१६]।"

यह सूक्ष्म शरीर भी नित्यजन्म-नित्यमरण के क्रम मे बंधा है। यह भी सदा विपरिणामी है।

स्थूल देह और सूक्ष्म देह से भिन्न एक तीसरे प्रकार का देह होता है जिसे कारण-शरीर कहा जाता है। स्थूल देह और सूक्ष्म देह के नष्ट हो जाने पर भी यह बना रहता है। इसे अविद्यामय शरीर कहते है। यह स्थूल देह और सूक्ष्म देह का आदि स्रोत और आधार है। सुषुप्ति मे सब जीवो का यही शरीर रहता है। जब तक यह शरीर बना रहता है तब तक जन्म-मरण के आवागमन का चक्र बना रहता है। इस देह के नष्ट होने के अनन्तर ही देही जीव का ब्रह्मभाव सम्यक् रूप से होता है।

यह अविद्यामय शरीर वस्तुतः मूलभूत प्राकृतिक पदार्थ या प्रकृति का रूप है। इसके नाश से प्रकृति का नाश हो जाता है। देखना यह है कि क्या गान्धी शाकर अद्वैतियो की भाँति इस अविद्यारूप प्रकृति को मानते हैं या नही? यदि हम इसे अविद्या न कहना चाहें, तो इसे हम केवल प्रकृतिमय देह कह सकते है।

यहाँ हम देह के मूल स्रोत पर आते हैं। एक ओर आत्मा है और दूसरी ओर प्रकृति या जिसे अब हम देह कहेंगे, वह है। आत्मा और प्रकृति एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। जीवतत्त्व और आत्मा में हम अभेद दिखला चुके हैं, अतः उसको इस प्रसग मे लाने की जरूरत नहीं है। इस प्रकृति को ही जगत्, संसार या दुनिया कहा जाता है। आत्मा नित्य एकरूप है तो प्रकृति नित्य नूतन रूप धारण करती रहती है।

आत्मा और प्रकृति के संबन्ध को जानने के लिए हमें सर्वप्रथम प्रकृति या संसार या जगत् के रूप को समझना चाहिए।

४ प्रकृति या जगत्

प्रकृति या जगत् को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं। दोनो दृष्टियों में इसकी तुलना अश्वत्थ (पीपल) के वृक्ष से की जाती है। अश्वत्थ का मतलब है वह जो कल तक टिकने वाला न हो, अर्थात् अनित्य हो, फिर भी

सत् हो। प्रकृति या जगत् अनित्य है क्योंकि वह कल तक टिका रहेगा, यह नही कहा जा सकता।

(१) पहली दृष्टि मे जगत् को ऐसा अश्वत्थ वृक्ष माना जाता है जिसकी डालियाँ नीचे-ऊपर फैली हुई है और जिसकी जड़ें नीचे मनुष्य लोक मे है[१३]।

यहाँ वृक्ष की डालियों का मतलब जगत् या प्रकृति की वस्तुओ और विषयों से है। जो लोग समझते हैं कि प्रकृति या जगत् की जड़ मनुष्य की इन्द्रिय-जन्य संवित्तियाँ और उसके कर्म है, विषय-वासनाएँ हैं, वे ही जगत् को ऐसा समझते है।

गान्धी की दृष्टि में 'यह संसार-वृक्ष का अज्ञानी की दृष्टि वाला वर्णन है'। यह बिलकुल मिथ्या है, भ्रम है।

यह आत्मा में भ्रम मात्र है। इसका ही वर्णन शंकराचार्य की निम्न-लिखित पंक्तियाँ करती है जो गान्धी की प्रातःकालीन प्रार्थना मे संगृहीत हैं—

यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्तौ।
रज्ज्वां भुजंगम इव प्रतिभासितं वै॥[१४]

अर्थात्

संपूर्ण आत्मा में यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार प्रतिभासित होता है जैसे कि रस्सी मे साँप।

यहाँ गान्धी प्रातिभासिक सत्ता का स्पष्ट समर्थन करते हैं।

(२) दूसरी दृष्टि मे जगत् की तुलना उस अश्वत्थ वृक्ष मे की जाती है जिसकी शाखा नीचे है और जिसका मूल ऊँचे है, जिसके पत्ते ज्ञान है[१६]।

गान्धी इस पर टिप्पणी करते हैं कि "संसार का प्रतिक्षण रूपान्तर हुआ करता है इससे वह अश्वत्थ है; परन्तु ऐसी स्थिति मे वह सदा रहने वाला होने के कारण तथा उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है, इस कारण वह अवि-नाशी है। उसमें यदि वेद अर्थात् धर्म के शुद्धज्ञानरूपी पत्ते न हों तो वह शोभा नहीं दे सकता। इस प्रकार संसार का यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्म को जानने वाला है वह ज्ञानी है[१७]।"

इस दृष्टि मे संसार प्रतिभास नही है। वह सत् है। उसकी सत्ता व्यावहारिक है। व्यावहारिक सत्ता का अस्तित्व परमार्थतः भी कुछ-न-कुछ अवश्य होता है। इसी को गान्धी माया कहते हैं। वे माया का अर्थ प्रतिभास

या भ्रम नहीं लेते । माया का अर्थ है, उनके मत से, 'सनातन-प्रवृत्ति'[१८] विन्सेंट शीअन ने लिखा है कि उनके साथ जब इस प्रसंग में गान्धी ने वार्तालाप किया, तो गान्धी ने माया शब्द का रूपान्तर भ्रम (illusion) नहीं होने दिया । उन दोनो ने फिर बड़े वाद-विवाद के अनन्तर निश्चय किया कि इसका रूपान्तर आभास (Appearance) है जिसे हमें फेनामेनन (Phenomenon) के अर्थ मे समझना चाहिए । भारतीय दर्शन में इसके लिए शब्द है व्यावहारिक सत्[१९] । इसी की पारिभाषिकी संज्ञा माया है जो शंकराचार्य के अनुसार भी अनादि और अनन्त है ।

गान्धी भी इनको अनादि और अनन्त मानते है । एक बार उनकी प्रार्थना मे कबीर का 'इस तन धन की कौन बड़ाई' यह भजन गाया गया । इसमे एक पंक्ति है—आप मुए पीछे डूब गई दुनिया—अर्थात् अपने मरने पर दुनिया डूब जाती है । इस पंक्ति पर एतराज करते हुए गान्धी ने कहा, "मुझे तो यह बहुत चुभता है । ऐसा मानने मे कुछ स्वार्थ काम करता है, यह मेरी छोटी बुद्धि मुझे बताती है । इसको भजनमाला म से निकाल देना चाहिए । हमारे मरने के बाद दुनिया कैसे डूबने वाली है ? पहले तो यह कि हम मरते ही नही, क्योंकि आत्मा अमर है । फिर दुनिया का मरना ही क्या, वह तो हमेशा बदलती रहती है । उसको तो परमात्मा न एक खेल बना रखा है[२०]" ।

यहाँ स्पष्ट है कि प्रकृति अनादि और अनन्त है । पर इसके साथ ही वह परमात्मा का खेल है अर्थात् उसके अधीन, उसी के लिए, उसी द्वारा निर्मित है । इसी को हम माया कहते है । स्पष्ट करने मे हम इसी को लीला कहते हैं । कुछ लोगो की दृष्टि मे मायावाद और लीलावाद मे भेद है । उनका कहना ठीक है कि मायावाद मे परम सत् एकमात्र परमात्मा है जबकि लीलावाद मे उस परमात्मा के अतिरिक्त प्रकृति भी सत् है जिसके साथ वह खेल रहा है । यही दोनो वादों का अन्तर है यद्यपि दोनो को यह मान्य है कि प्रकृति का आधार, स्रोत और लक्ष्य परमात्मा है ।

अब देखना है कि गान्धी मायावाद और लीलावाद के विवाद से अपनी स्वतन्त्र दृष्टि कैसे निकालते हैं ।

५ मायावाद

मायावाद परमात्मा और जगत् के संबन्ध को अन्वय तथा व्यतिरेक दो दृष्टियों मे व्यक्त करता है ।

अन्वय-दृष्टि से सकल जगत् परमात्मा है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। गान्धी ने इसका समर्थन ईशावास्योपनिषद् के मंत्र से किया। संसार में जो कुछ भी है वह ईश्वर या परमात्मा से ओत-प्रोत है। ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। अतः परमात्मा से भिन्न, उसकी नकल में, उसका द्वितीय, कोई नहीं है। वह एक और अद्वितीय है। वही जगत्, यदि समझ लिया जाय तो ब्रह्म है।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि ऊपर कहा हुआ जगत् और उसका ऊर्ध्व मूल ईश्वर महज एकांगी उपमा है। जगत् का मूल ही परमात्मा नहीं है, वरन् जगत् स्वयमेव परमात्मा है। जगत् और ब्रह्म में तनिक भी भेद नहीं है। यदि उस वृक्ष की उपमा लें तो जगत् की शाखाएँ वगैरह भी ब्रह्म से व्याप्त है।

व्यतिरेक-दृष्टि से परमात्मा और जगत् का संबन्ध 'नेति-नेति' द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसको भी गान्धी प्रायः कहा करते है। अतः उन्हें यह मान्य है। इसका तात्पर्य यह कि परमात्मा जगत् से अतीत है। वह जगत् के बिना भी रह सकता है, यद्यपि जगत् किसी भी अर्थ में उसके बिना रह नहीं सकता है।

किन्तु कुछ लोग व्यतिरेक-दृष्टि को अधिक महत्त्व देते है और उसका अर्थ यह निकालते है कि परमात्मा जगत् के बिना रहता है और जगत् का कुछ भी अस्तित्व मायावाद में नहीं है। पर यह भ्रान्त धारणा है। यदि जगत् का अस्तित्व न होता तो व्यतिरेक किससे होता? पर जगत् की स्थिति होते हुए भी परमात्मा जगत् के बिना रह सकता है। इसका यह मतलब नहीं कि वह जगत् के बिना रहता है। 'रह सकता है' और 'रहता है' मे महान् अन्तर है। इस अन्तर को, इस खाई को हम तभी पार कर सकते हैं जब हम वस्तुतः जगत् का अतिक्रमण कर दें। यह संभावना आदर्श है। इसका तार्किक, नैतिक और मूल्यवैज्ञानिक महत्त्व है। गान्धी जब कहते है कि वे अभेद को आदर्श मानते हैं और भेद को यथार्थ, तो वे वस्तुतः अभेद को इसी अर्थ मे लेते हैं। इसी अभेद से उन्हें कार्य में, व्यवहार में, साधना में और ज्ञान मे प्रेरणा मिलती है।

इस अभेद की संभावना का यदि विधायक नहीं तो निषेधक महत्त्व निर्विवाद है। हम इससे अपने ज्ञान, कर्म, भावना की तुलना करके उनकी सच्चाई-कच्चाई नाप सकते हैं।

पर क्या यह सभावना-मात्र है ? अथवा कभी यथार्थ भी है ? यहाँ यहं कहना होगा कि यह यथार्थ है पर इसका वर्णन लौकिक भाषा द्वारा नही हं सकता क्योंकि इसमें लोक नही रह जाता और वह ब्रह्म हो जाता है। यदि ब्रह्म इस अभेद का अपनी भाषा में वर्णन करे तो शायद वह संभव है। पर इसका वर्णन हम मनुष्यों के बूते का नही है। इसलिए इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है।

मनुष्य अनिर्वचनीय का गलत अर्थ लगा लेता है कि यह ज्ञानगम्य नही है। वह नहीं जानता कि प्रत्येक चीज की परिभाषा का मूलाधार जिस अर्थ मे अनिर्वचनीय है उसी अर्थ में हमे जगत् और परमात्मा के अभेद की अनिर्वच-नीयता को समझना चाहिए। फलतः वह सोचने लगता है कि परमात्मा के बाहर नही तो परमात्मा के अन्दर ही कोई-न-कोई सत् परमात्मा से भिन्न होना चाहिए जिससे वह खेल-कूद कर अपने में जगत् को उत्पन्न करे। 'खेल-कूद कर' कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि पूर्ण, नित्यतृप्त आत्मा की अन्य कोई इच्छा ही नही है जिससे वह सृष्टि करता और दूसरे शायद सभी सच्ची कृतियाँ खेल या लीला से ही शुरू होती है। इस भावना ने मनुष्य को मायावाद से हटाकर लीलावाद के किनारे ला दिया।

६ लीलावाद

लीलावाद के अनुसार परमात्मा में स्वगत भेद है यद्यपि वह सजातीय और विजातीय भेदो से मुक्त है। अपने स्वगत घटकों से जो उसमें होते हुए भी उसकी सत्ता से भिन्न हैं, वह आनंद लेता है, उनपर अपनी प्रभुता रखता है और उनसे स्वान्तःसुखाय सृष्टि करता है।

गान्धी ने कहा कि "मैं अद्वैती हूं और फिर भी द्वैतवाद का समर्थन कर सकता हू। संसार प्रतिक्षण बदल रहा है और इसलिए असत् है। इसकी सत्ता नित्य, स्थायी नही है। किन्तु यद्यपि यह निरन्तर बदल रहा है उसकी अपनी कुछ सत्ता है जो अव्यभिचारी है और इसलिए इस हद तक वह सत् है। इसलिए मुझे इसको सत् और असत् कहने में आपत्ति नहीं है और न आपत्ति अपने-को अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहलाने में है। किन्तु मेरा स्याद्वाद विद्वानों का स्याद्वाद नहीं है, यह मेरा अपना अनोखा है[१]।"

यहाँ गान्धी वस्तुतः लीलावाद का समर्थन कर रहे हैं। वे इस मत को

अनेकान्तवाद और रहस्यवाद कहते है । पर चूंकि ये जैनियों के अपने विशिष्ट सिद्धान्त हैं अतः इनके विशिष्ट अर्थों मे गान्धी इनका प्रयोग नहीं करते । वे इनको अपने अर्थ में प्रयुक्त करते हैं यद्यपि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद से उनको अपना विशिष्ट अर्थ निकालने मे सहायता मिलती है । हम इस विशिष्ट अर्थ को लीलावाद कहेगे ।

उन्होने स्पष्ट कहा—

"संसार ईश्वर का लीला-स्थल है, उसकी महिमा का प्रतिबिंब है[२२] ।"

अब प्रश्न उठ सकता है कि गान्धी मायावाद को मानते थे या लीलावाद को ? उन्होने दोनो की अभिव्यक्ति की है । अतः किन्ही अर्थों में वे दोनों को मानते हैं । दोनो को मानकर वे इनका समन्वय करते हैं । इस समन्वित वाद को हम योगमायावाद कहेंगे ।

७ योगमायावाद

मायावाद और लीलावाद का समन्वय करते हुए गान्धी ने कहा—"परमात्मा सबसे बडा जगत्-विदित प्रजातन्त्रवादी है क्योंकि वह हमें भलाई और बुराई में अपनी पसद करने के लिए बन्धन-रहित या मुक्त किये हुए है । वह सबसे बड़ा जगत्-प्रसिद्ध निरंकुश शासक भी है क्योंकि वह हमारी आशाओं पर पानी फेर देता है और स्वतन्त्रेच्छा की आड़ मे बहुत ही अपर्याप्त अवसर हमको केवल इसलिए देता है कि हम अपनी हानि करके उसको आनन्द दे । इसी कारण हिन्दूधर्म इस (जगत्) को उसकी लीला कहता है या इस सबको माया कहता है । हम नहीं हैं, वही अकेला है । और यदि हम हों, हमें नित्य उसका स्तवन गाना है और उसकी इच्छा बजाना है । हमे उसकी बाँसुरी की आवाज पर नाचने दो और सब कुछ अच्छा होगा[२३] ।"

यहाँ जीव और जगत् को 'नही' कहा गया और परमात्मा को 'है' कहा गया है । इस दृष्टि में मायावाद है । फिर जीव और जगत् को यदि 'है' कहा गया तो महज वह परमात्मा की लीला के उपकरण के अर्थ मे माना गया । इस दृष्टि में लीलावाद है । यदि जीव-जगत् को सत् मानना हो तो फिर उसे लीला का उपकरण ही क्यो कहा जाय ? उनको परमात्मा से बिलकुल भिन्न क्यों न माना जाय ? इस प्रश्न का उत्तर गान्धी निरीश्वरवादी या जड़वादी की तरह नही देते । वे अपने को अद्वैती बनाये रखते है। इसलिए वे मायावाद से मिलती-जुलती लीला का समर्थन करते है । लीला के खिलौनों

के रूप में ही जीव और जगत् को मानने का अभिप्राय यह है कि वे वस्तुतः सत् नहीं है। खिलवाड़ और खिलौने मिथ्या के अर्थ में आते हैं, यह दिखलाने के लिए कि ये स्वतः तुच्छ है, सत्ताहीन है। अतः लीलावाद वस्तुतः मायावाद के ही अनुकूल है। यदि मायावाद उसका नियामक न हो तो फिर लीला क्यों मानी जाय ? फिर तो वास्तविक उत्पत्ति या विकास ही न माना जाय जैसे कि सांख्य मे प्रकृति का विकास होता है अथवा आधुनिक विज्ञान के अनुसार जगत् का विकास होता है। अतः गान्धी के मन में यह स्पष्ट धारणा बिलकुल सही जमी हुई है कि मायावाद और लीलावाद मे कोई विरोध नही है।

कुछ लोग कहेंगे कि लीलावाद के अनुसार खिलौना-रूप से ही नहीं, पर किसी-न-किसी रूप से जगत् परमात्मा के अन्दर है तो। वह उसमे स्वगत भेद करता तो है। इससे क्या लीलावाद का मायावाद से भेद नही स्पष्ट हो जाता है ?

इस प्रश्न का उत्तर गान्धी गीता के निम्नलिखित श्लोक से देते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।[२४]

अर्थात्

परमात्मा का कथन है—अपनी योगमाया से ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूँ। यह मूढ जगत् मुझ अजन्मा और अव्यय को भली-भाँति नहीं पहचानता।

इस पर गान्धी टिप्पणी करते हैं कि "इस दृश्य जगत् को उत्पन्न करने का सामर्थ्य होते हुए भी अलिप्त होने के कारण परमात्मा के अदृश्य रहने का जो भाव है वह उसकी योगमाया है[२५]।"

यहाँ स्पष्ट है कि योगमाया के कारण जगत् के लोग परमात्मा को नही जान सकते है, अतः वे जगत् का संबन्ध कैसे उससे बैठा सकते है ? माया और लीला—दोनो द्वारा जगत् का परमात्मा से सम्बन्ध बैठाना वस्तुतः अनिर्वचनीय है। अतः हम दोनों का समन्वय इसी योगमायावाद में करते है। मायावाद और लीलावाद दोनो योगमायावाद हैं, ब्रह्मवाद नहीं हैं। ब्रह्मवाद कुछ दूसरा ही है। हमे जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध के विषय में माथापच्ची न करनी चाहिए। वर्तमान अवस्था मे जगत् में सर्वत्र एकरस

व्याप्त ब्रह्म को देखकर 'जगत् ब्रह्म है, ऐसा मानकर काम करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है। सृष्टि के आदि का इतिहास जानने में कोई लाभ नहीं है। इसीलिए गान्धी ने योगानन्द स्वामी से कहा—

"जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, और क्यों हुई, इन सब प्रश्नों की चिन्ता में मैं क्यों पड़ूँ ?"

इस पर योगानन्द ने पूछा—"ईश्वर ने हमें बुद्धि तो दी है ?" फिर गान्धी ने उत्तर दिया—"बुद्धि तो जरूर दी है, पर वह बुद्धि हमें यह समझने में सहायता देती है कि जिन बातों का हम ओर-छोर नहीं निकाल सकते उनमें हमें माथापच्ची नहीं करनी चाहिए[२६]।"

यहाँ हमें शंकराचार्य के निम्नलिखित शब्द स्मरण आते हैं—नहि सृष्टयाख्यायिकापरिज्ञानात् किंचित् फलमिष्यते, ऐकात्म्यप्रतिपत्तेस्तु अमृतत्व फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्।

अर्थात् सृष्टि की आख्यायिका के परिज्ञान से कुछ फल नहीं होता। अद्वैतात्मानुभूति से अमृतत्व की प्राप्ति होती है—यह सब उपनिषदों में कहा गया है।

इसीलिए गान्धी शंकर के वेदान्त और भाव को लेकर कहते हैं "वेदान्त कहता है कि यह जगत् माया-रूप है। यह निरूपण भी मनुष्य की तोतली वाणी का है। इसलिए मैं कहता हूँ कि मैं इन बातों में पड़ता ही नहीं। ईश्वर के घर के गूढ़-से-गूढ़ भेद जानने का भी मुझे अवसर मिले तो भी मैं उन्हें जानने की हामी न भरूँ। कारण यह है कि मुझे यह पता नहीं कि मैं यह सब जानकर क्या करूँगा। हमारे आत्मविश्वास के लिए इतना ही काफी है कि मनुष्य जो कुछ अच्छा काम करता है, ईश्वर निरन्तर उसके साथ रहता है[२७]।"

इस प्रकार गान्धी ने लीलावाद और मायावाद अथवा ऐसे ही किसी अन्य वाद पर माथा-पच्ची करना सचमुच अनावश्यक समझा। इस विषय में हम उनकी तुलना गौतमबुद्ध से कर सकते हैं जिन्होंने कतिपय प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहकर टाल दिया। गान्धी के अव्याकृत भी इसी प्रकार अव्याकृत है। यह प्रसिद्ध बात है कि इन अव्याकृतों के बारे में एक राय सभी दार्शनिकों की कभी भी नहीं हो सकती है। अतः इन पर चिन्ता करना सचमुच विशेष फलोत्पादक नहीं है।

८ निष्कर्ष

सृष्टिविज्ञान की चिन्ता गान्धी-दर्शन का विषय नहीं है। गान्धी इससे उदासीन हैं। पर उनके योगमायावाद और ब्रह्मवाद से स्पष्ट है कि परम सत् ब्रह्म ही अकेला है और प्रकृति सत् होते हुए भी परम सत् नहीं है। प्रकृति और ब्रह्म मे एक दृष्टि से अभेद सम्बन्ध है और दूसरी दृष्टि से अनिर्वचनीय सम्बन्ध है। जिस अर्थ मे प्रकृति सत् है उसमे प्रकृति ब्रह्म ही है। जिस अर्थ मे वह ब्रह्म-भिन्न है, असत् है, उस अर्थ मे ब्रह्म में उसकी अनिर्वचनीयख्याति है।

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

१ रामनाम पृ० २८।

२ आश्रम-भजनावलि पृ० १००।

३ अनीति की राह पर, पृ० १५२-१५३।

४ वही पृ० १५७-१५८।

५ भगवद्गीता २।५६।

६ अनीति की राह पर, पृ० १५५।

७ वही पृ० १५५।

८ वही पृ० १५५।

९ वही पृ० १५६।

१० वही पृ० १५६।

११ वही पृ० १५६।

१२ वही पृ० ५६।

१३ गीतामाता पृ० ८४।

१४ भगवद्गीता अध्याय १५।

१५ आश्रम-भजनावलि पृ० ४।

१६ भगवद्गीता अध्याय १५।

१७ गीतामाता पृ० २३४-२३५।

१८ वही पृ० २३५ ।

१९ Mahatma Gandhi, ed. S. Radhakrishnan, पृ० ४४८ ।

२० प्रार्थना प्रवचन भाग एक, पृ० २५१-२५२ ।

२१ Hindu Dharma, पृ० ६२ ।

२२ आत्मकथा पृ० २५५ ।

२३ Hindu Dharma पृ० ६२ ।

२४ भगवद्गीता ७।२५ ।

२५ गीतामाता पृ० १८१ ।

२६ ब्रह्मचर्य भाग एक, पृ० १४२-१४३ ।

२७ वही पृ० १४२ ।

अध्याय ६

बुराई क्या है ?

१ गुण-दोषमय जगत्

गान्धी ने तुलसीदास के निम्नलिखित दोहे को अपने प्रार्थना-प्रवचन मे कहते हुए माना कि जगत् और देह के साथ गुण-दोष लगे हुए है :—

जड चेतन गुन दोषमय, विश्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहि पय, परिहरि वारि विकार ॥[१]

अर्थात्

कर्त्ता परमात्मा ने विश्व को जड-चेतनमय और गुण-दोषमय बनाया है। इसमें गुण और दोष दूध तथा पानी की तरह घुले मिले हैं। संतों का कर्त्तव्य है कि वे हंस की तरह पानी-रूपी विकार या दोष को त्याग करके गुण का ग्रहण करे।

दोष के ही पर्याय बुराई, पाप, अधर्म, अवगुण, दुर्गुण और कलुष हैं। फिर चूंकि गान्धी परमात्मा को खुदा मानते हैं, इसलिए वे इसे शैतान या राक्षस भी कहते है। इसी प्रकार परमात्मा राम है तो बुराई रावण, परमात्मा पांडव है तो बुराई कौरव। परमात्मा अहिंसा है तो बुराई हिंसा। परमात्मा सत्य है तो बुराई असत्य। भलाई या परमात्मा दैवी वृत्ति है तो बुराई आसुरी वृत्ति। परमात्मा तत्त्व है तो बुराई माया। इस प्रकार बुराई जगत् और देहधारी जीव दोनों में है। बुराई का संबन्ध देहमात्र से है। जब तक देह है तब तक पिंड में बुराई भी है। जब तक जगत् का अस्तित्व है, तब तक उसमें बुराई का भी अस्तित्व है।

जगत् में बुराई है, इसको कबीर का निम्नलिखित पद बतलाता है जो आश्रम भजनावलि मे दिया हुआ है :—

रहना नहीं देस बिराना है ।

यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है ।।
यह संसार काँटे की बाड़ी, उलझ उलझ मरि जाना है ।।
यह संसार झाड़ और झाखर, आग लगे बरि जाना है ।।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ।।[२]

संसार बुराई का घर है । इसमें सच्चा गुरु ही वह एक स्थान है जहाँ हमें बुराई से बचने का उपाय मिल सकता है, जहाँ हम अपने रहने का अड्डा पा सकते हैं ।

जीव में बुराई बताने वाले वचन भी गान्धी ने अनेक बार कहे । उनके मत से इन्सान भूलों और गलतियों का पुतला है ।

पर यह न समझना चाहिए कि जीव और जगत् में महज बुराई ही बुराई हैं । दोनों में भलाई भी है । जगत् में परमात्मा व्याप्त है, जीव का भी अन्तर्यामी वही है । परमात्मा भला है । उसकी भलाई जीव और जगत् में भी विद्यमान है ।

इस प्रकार जीव-जगत् में भलाई-बुराई दोनों हैं । बुराई से, अधर्म से, दुःख होता है और भलाई से, धर्म से, सुख होता है । इस कारण जीव-जगत् सुख और दुःख से भी परिपूर्ण है ।

जीव और जगत् में भलाई-बुराई दोनों का सह-अस्तित्व होने के कारण और प्रत्येक का दूसरे का विरोधी होने के कारण इन दोनों में सदैव लड़ाई चलती रहती है । पिंड और ब्रह्माण्ड दोनों कुरुक्षेत्र बने हुए हैं जहाँ पाप-पुण्य की, धर्म-अधर्म की, भलाई-बुराई की शाश्वत् लड़ाई हो रही है ।

ईसाई धर्म और इस्लाम इसी लड़ाई को ईश्वर और शैतान के बीच का भीतरी-बाहरी नहीं, द्वन्द्वयुद्ध मानते हैं । पारसी धर्म इसको अहुरा मज्दा और अहिर्मन का द्वन्द्वयुद्ध मानता है । हिन्दू धर्म इसे धर्म और अधर्म की शक्तियों के बीच की लड़ाई कहता है[३] ।

इस लड़ाई के विषय में गान्धी के निम्नलिखित विचार हैं—

(१) सत्यमेव जयते, नानृतम् अर्थात् सत्य की, भलाई की इसमें जीत होती है, झूठ या बुराई की नहीं । कल्याण के मार्ग पर चलने वाले की कभी अधोगति न होगी, बुराई के मार्ग पर चलने वाले को कभी सफलता न मिलेगी ।

(२) बुराई भलाई के बिना टिक नहीं सकती है। असत्य में सत्य छिपा है, अन्धकार में प्रकाश छिपा है और इसी प्रकार बुराई में भलाई कुछ-न कुछ रहती है। जब जगत् ईश्वर से, भलाई से, ओत-प्रोत है, तो जो कुछ बुराई है, उसमें भी कुछ-न-कुछ भलाई अवश्य है। इसी कारण बुराई कुछ समय तक टिकी रहती है। ऐसा न हो तो वह एक क्षण भी नहीं टिक सकती है।

(३) बुराई अपना नाश स्वयं करती है। बुराई ऐसी बनी ही हुई है कि उसका नाश हो, वह फिर-फिर जन्मे और फिर-फिर मरे। इस तरह जो लक्षण नित्यजन्मा, नित्यमरणा जगत् का है, वही लक्षण बुराई का भी है।

(४) भलाई बुराई की बनिस्बत ज्यादा है। इसीलिए हम जीव और जगत् को भला कहते हैं, बुरा नहीं कहते हैं।

"भगवान् उसी अर्थ में भला नहीं है जिसमें इन्सान भला है। इन्सान तुलना में भला है। वह बुरे की बनिस्बत भला ज्यादा है। लेकिन भगवान् तो भला ही भला है। उसमें बुराई का नाम भी नहीं है[४]।"

इस प्रकार बुराई को कुछ जान लेने पर तत्त्वज्ञानी प्रश्न उठा सकता है कि वह कहाँ से आई और कैसे आई?

२ बुराई का कारण

(१) बुराई का कारण बताते हुए गान्धी ने कहा कि "मैं जानता हूँ कि उसमें (ईश्वर में) बुराई नहीं है। वह इसका रचयिता है और इससे अछूता भी है[५]।"

यहाँ बुराई का कारण ईश्वर कहा गया है, ठीक वैसे ही जैसे वह जगत् का कारण कहा जाता है क्योंकि बुराई का अधिष्ठान जगत् ही तो है। पर यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि बुराई का कारण ईश्वर कैसे हो सकता है? ईश्वर में यदि बुराई नहीं है तो वह बुराई का कारण नहीं हो सकता। फिर जब यह माना जाता है कि ईश्वर जिसे उत्पन्न करता है उसमें वह समाया हुआ रहता है, तो फिर क्यों नहीं माना जाता कि यदि बुराई ईश्वर-कृत है तो ईश्वर बुराई में वैसे ही संलग्न है जैसे कि वह अपनी सृष्टि की अन्य वस्तुओं में। अतः यह उत्तर संतोषजनक नहीं हो सकता है। इसको गान्धी जानते हैं। इसलिए इसके पहले वे कहते हैं कि ईश्वर अपने जगत् में

बुराई को बरदाश्त कर लेता है[६]। शायद इसी अर्थ में हम कह सकते है कि वह बुराई का रचयिता है। इस पर और प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं—

"यह कहना कि ईश्वर बुराई को इस संसार में आदेश देता है, कानों को सुखद नहीं लग सकता है। किन्तु यदि वह भलाई का जिम्मेवार समझा जाता है, तो यह सिद्ध होता है कि उसे बुराई का भी जिम्मेवार होना है। क्या राम ने रावण के अद्वितीय पराक्रम के प्रदर्शन को बरदाश्त नहीं किया ? शायद इस शंका का मूलकारण 'ईश्वर क्या है ?' इसे न समझना है : ईश्वर शरीरी नहीं है, वह वर्णनातीत है[७]।"

यहाँ स्पष्ट है कि सगुण ब्रह्म या ईश्वर जो सभी गुणों का निधान है, बुराई के कारण को नहीं सुलझा सकता। पर जो ईश्वर या ब्रह्म सगुण-निर्गुण से परे हैं, भलाई और बुराई से परे हैं, वह जैसे भलाई का कारण होता है वैसे ही वह बुराई का भी कारण होता है। पर उसकी यह कारणता वैसे ही है जैसे कि जगत् की कारणता, जिसका समाधान हम देहतत्त्व और जगत् के अध्याय में कर आये है।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि ईश्वर का अपने जगत् में बुराई को बरदाश्त करना उसकी दयालुता और सहिष्णुता जैसे गुणों का ही द्योतक है।

(२) ईश्वर भलाई है या भलाई ईश्वर है—इस वाक्य में भलाई का वह अर्थ नहीं है जो हम लेते हैं। हम भलाई को सदैव बुराई की तुलना में अधिक समझते है और भलाई में भी कुछ-न-कुछ बुराई मानते हैं। इस कारण हमारी भलाई ईश्वर की भलाई नहीं है। हमारी भलाई वस्तुतः बुराई से बचना है। बुराई का कारण ईश्वर नहीं है, बुराई का कारण इन्सान स्वयं है। भगवान् ने इन्सान को बनाया और इन्सान ने अपनी करतूत से अपने पिंड तथा ब्रह्मांड दोनों में बुराई पैदा कर दी।

इस प्रसंग में हम याद कर सकते हैं कि जगत् की द्विविध कल्पना संभव है। एक तो वह जिसके अनुसार उसकी जड़ ऊर्ध्व है। दूसरी वह जिसके अनुसार उसकी जड़ नीचे है। हम दूसरी कल्पना को प्रातिभासिक सत् और पहली कल्पना को माया अर्थात् व्यावहारिक सत् कह आये हैं। दूसरी कल्पना के अनुसार जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता जीव ही है। इस प्रकार बुराई की भी ये दो कल्पनाएँ की जा सकती है। दूसरी कल्पना में बुराई प्रातिभासिक है,

अज्ञानमूलक है, भ्रम है। उसका कुछ अस्तित्व नही है। वह मानव के अज्ञान के कारण उत्पन्न हुई है।

वास्तव में गान्धी बुराई को प्रातिभासिक नही मानते है। "मोद या जिसे लोग सुख कहते हैं वह इस क्षणभंगुर परिवर्तनशील संसार में एक स्वप्न हो सकता है, और वस्तुत है भी क्योकि यहाँ प्रत्येक वस्तु नश्वर, स्वप्नमय है। किन्तु हम अपने साथियो के दुःख को असत् कहकर टाल नहीं सकते है और न ऐसा कहकर हम अपना नैतिक जगत् कही अन्यत्र बना सकते हैं। स्वप्न भी सत्य हैं जब कि वे होते है और दुःखी के लिए उसका दुःख कष्ट सत है। कुछ भी हो, चाहे जगत् सत हो या असत् हो, जीवन में हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं जिनका सामना करना ही है, जिन्हे समझना और उचित ढग से करना ही है जब तक कि हम जगत् मे हैं[८]।"

इस प्रकार दुःख या बुराई की व्यावहारिक सत्ता है। इसका कारण मानव का अज्ञान नही है। और फिर "यदि प्राणिमात्र में अभेद है तो एक के पाप का असर दूसरे के ऊपर होना लाजिमी ही है। इस वजह से भी मनुष्य हिंसा से नितांत अछूता नहीं रह सकता। समाज में रहने वाला मनुष्य समाज की हिंसा मे बिना चाहे भी साक्षी बनता रहता है[९]।"

अब स्पष्ट हो गया कि जैसे जगत का कारण मनुष्य नहीं है, वैसे बुराई का भी कारण मनुष्य नहीं है। बुराई व्यक्ति से स्वतन्त्र भी अपनी सत्ता रखती है। हम जगत् को भले-बुरे का मिश्रण कह ही आये हैं। अत जगत् की उत्पत्ति के विषय में जो सिद्धान्त ठीक है वही बुराई के बारे में भी ठीक है। बुराई का अन्तर्भाव भलाई में नही किया जा सकता। बुराई को अच्छाई का निम्न रूप या सुप्त रूप नहीं कहा जा सकता। बुराई माया है जैसे कि जगत् माया है। यह अनिर्वचनीय है और व्यावहारिक है।

(३) ऊपर कहे गए दोनो मतो से कोई लाभ नहीं है। "दुनिया में पाप क्यो है? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। मैं तो एक ग्रामवासी जो जवाब देगा वही दे सकता हूँ। जगत् में प्रकाश है तो अन्धकार भी है। इसी तरह जहाँ पुण्य है वहाँ पाप होगा ही। किन्तु पाप और पुण्य तो हमारी मानवी दृष्टि से हैं। ईश्वर के आगे तो पाप और पुण्य जैसी कोई चीज ही नही है। ईश्वर तो पाप और पुण्य दोनो से परे हैं। हम गरीब ग्रामवासी उसकी लीला का मनुष्य की वाणी में वर्णन करते हैं, पर हमारी भाषा ईश्वर की भाषा

यही है[१०]।" इस प्रकार गान्धी बुराई-भलाई को ईश्वर की लीला कहते हैं। यहा वे लीलावाद का समर्थन करते हैं।

(४) पर वस्तुतः लीला कह देने से भी काम नही चलता। लोगों को इस पर भी सन्देह हो सकता है और स्वयं गान्धी को भी इससे संतोष नहीं है। अत. वे कहते है :—

"बुराई बुराई का ख्याल करते रहने से नहीं मिटती। हाँ, अच्छाई का विचार करने से बुराई जरूर मिट जाती है; लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नीयत से उलटी तरकीबें काम मे लाते हैं। 'वह कैसे आई, कहाँ से आई ? वगैरह विचार करने से बुराई का ध्यान बढ़ता जाता है। बुराई मेटने का यह उपाय हिंसक कहा जा सकता है। इसका सच्चा उपाय तो बुराई से असहयोग करना है। जब बुराई हम पर आक्रमण करे तो उससे 'भाग जाना, कहने की कोई जरूरत नही। हमे तो यह समझ लेना चाहिए कि बुराई नाम की कोई चीज है ही नहीं और हमेशा स्वच्छता का, अच्छाई का विचार करते रहना चाहिए। 'भाग जा' कहने में डर का भाव है। उसका विचार तक न करने मे निडरता है। हमें सदा यह विश्वास बढ़ाते रहना चाहिए कि बुराई मुझे छू तक नही सकती। अनुभव द्वारा यह सब सिद्ध किया जा सकता है[११]।"

इस प्रकार बुराई कहां से कैसे आई ? इस प्रश्न की मीमांसा करना अनावश्यक है। यह एक 'अव्याकृत' प्रश्न है। हमे बुराई के अस्तित्व को मान लेना चाहिए और फिर उसका ध्यान तक न करके उसकी इतनी उपेक्षा करनी चाहिए कि वह है ही नही।

पर इतना ही मानना पर्याप्त नहीं है। यह भी मानना आवश्यक है कि बुराई का अन्त किया जा सकता है। बुराई जीती जा सकती है। इसलिए यद्यपि बुराई का कुछ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है तथापि उसका ठिकाना नही है कि वह कल रहेगी। वह नष्ट होने वाली है। इसलिए उसकी स्थिति वस्तुतः माया है। माया का यहाँ वही अर्थ लेना चाहिए जिसे स्वामी विवेकानन्द ने दिया है। माया कोई सिद्धान्त नही है, यह वस्तु-स्थिति का निरूपण है। जो सत् हो और फिर भी अन्तिम सत् न हो और अवश्य रूप से नश्वर हो, असत् हो, उसी वस्तु को हम माया कहते है। इस प्रकार बुराई को माया मान लेने से पर्याप्त लाभ है।

इस माया को पार करना है। इससे बचकर भला होना है। जब हम विशुद्ध भले हो जायेंगे तो हम परमात्मा में मिल जायेंगे या परमात्मा ही हो जायेंगे। यह अद्वैत आदर्श बुराई को जीतने वाले के समक्ष रहना अनिवार्य है।

इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति को यह समझना जरूरी है कि वह स्वयं निरा बुरा नहीं है। वह वस्तुतः निरा भला है। पर वस्तु-स्थितिवश माया-वश, वह भले और बुरे का मिश्रण हो गया है। अतः उसका आदर्श उसमें मौजूद है। उसे अपनी भली, निरी भली आत्मा को ही प्राप्त करना है। यही परमार्थ स्वीकार करना प्रार्थना है—प्रार्थना अपनी कमजोरी और अयोग्यता को कबूल करना है[१२]। इसीलिए गान्धी को सूरदास का निम्न-लिखित पद बहुत पसन्द था—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो निमकहरामी।[१३]

ईश्वर बुराई से बचाने वाला है। इसका मतलब है कि भलाई हमें बुराई से बचाने वाली है। मनुष्य को इस भलाई-रूपी परमात्मा से अच्छे होने की प्रार्थना अर्थात् हार्दिक पुकार करनी चाहिए। सूरदास कहते हैं :—

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
सम दरसी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो॥
एक नदिया एक नार कहावत मैलो हि नीर भरो॥
जब मिलकर के एक बरन भए सुरसरि नाम पर्‌यो॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो॥
पारस गुन अवगुन नहिं चितवत कंचन करत खरो॥
यह माया भ्रम-जाल कहावत सूरदास सगरो॥
अब की बेर मोहि पार उतारो, नहिं प्रन जात टरो॥[१४]

इस प्रकार परमात्मा गंगा और पारस पत्थर की भाँति सबको अपने में लेने वाला है। यदि लोग उसको पाने की चेष्टा करें तो वह मिल सकता है। तब माया-जाल टूट सकता है। बुराई का अन्त हो सकता है।

यदि कोई इसमें ईसाइयत की गन्ध देखे और कहे कि मनुष्य स्वभावतः पापी ही है, पुण्यात्मा नहीं है, तो गान्धी उसे अपनी आश्रम भजनावलि का निम्नलिखित, नानक का पद बतलाकर कहेंगे कि मनुष्य बुरा से कहीं अधिक भला है और उसमें ही परमात्मा का, जो कि भलाई ही है, वास है।

काहे रे ! बन खोजने जाई ।
सर्व-निवासी सदा अलेपा, तोही संग समायी ।।
पुष्पमध्य ज्यों बास बसत है, मुकुट मांहि जस छायी ।
तैसे ही हरि बसै निरन्तर, घट ही खोजो भाई ।।
बाहर भीतर एकै जानो, यह गुरु ज्ञान बताई ।
जन नानक बिन आपा चीन्हे, मिटै न भ्रम की काई ।।[१५]

अगर कोई गान्धी से पूछे कि ईश्वर मनुष्य को पाप-मुक्त क्यों नहीं कर देता ? वह क्यों मनुष्य के प्रयत्न की बाट जोहता है ? तो वे कहेंगे—"मैं इस प्रश्न की उधेड़-बुन में नहीं पड़ना चाहता । ईश्वर और हम बराबर नहीं हैं । बराबरी वाले ही एक दूसरे से ऐसे प्रश्न पूछ सकते हैं, छोटे-बड़े नहीं । गाँववाले यह नहीं पूछते कि शहरवाले अमुक काम क्यों करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अगर हमने वैसा किया तो हमारा सर्वनाश तो निश्चित ही है[१६] ।"

निःसन्देह यहां गान्धी ने बड़ी जोरदार दलील दी है । इसका आशय स्पष्ट है कि यह प्रश्न 'अनुत्तराहं अव्याकृत' ही नहीं किन्तु अनावश्यक और निष्प्रयोजन भी है ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

१ प्रार्थना प्रवचन भाग एक, पृ० १०५ ।
२ आश्रम भजनावलि पृ० ६६ ।
३ Hindu Dharma, पृ० १२१ ।
४ पन्द्रह अगस्त के बाद, पृ० २८ ।
५ Hindu Dharma, पृ० ६६ ।
६ वही पृ० ६६ ।
७ वही पृ० ५२ ।
८ वही पृ० ५२ ।
९ आत्मकथा पृ० ४४१-४४२ ।
१० ब्रह्मचर्य भाग एक, पृ० १४१ ।
११ गीतामाता पृ० ५६१-५६२ ।
१२ Hindu Dharma, पृ० ११६ ।
१३ आश्रम भजनावलि पृ० ८६ ।
१४ वही पृ० ८६-८७ ।
१५ वही पृ० १०७ ।
१६ ब्रह्मचर्य भाग दो, पृ० १४२ ।

अध्याय १०

मोक्ष का सिद्धान्त

१ परमपद

गान्धी मोक्ष को अपना आदर्श मानते हैं। उनकी नयी तालीम, बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य भी है कि मोक्ष के लिए ही पढ़ना चाहिए। विद्या सा या विमुक्तये—वही विद्या है जो मोक्षदायिनी हो, इस भारतीय सिद्धान्त के अनुसार ही उन्होंने प्रत्येक कला, विज्ञान और शास्त्र का उद्देश्य मोक्ष दिलवाना माना।

मोक्ष को गान्धी मुक्ति, सत्य-प्राप्ति, अहिंसा-प्राप्ति, ईश्वरदर्शन, हरि-दर्शन, आत्म-ज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, परमपद कहते हैं। उनके विचार से इस स्थिति मे जीव और परमात्मा का, जगत् और परमात्मा का, अभेद-भाव या अद्वैत-भाव होता है। उनका कहना है कि उनका प्रत्येक कार्य इसी के उद्देश्य से होता है। वे यह भी कहते हैं कि उन्हें यह सत्य मिला नहीं है[1]। इससे स्पष्ट है कि वे जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को नही मानते है।

२ विदेह मुक्ति

गान्धी जीवन्मुक्ति को सभव नहीं मानते। उनके अनुसार जब तक देह है तब तक मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती है। वे विदेहमुक्ति के सिद्धान्त के हिमायती है। मुक्ति तभी मिलती है जब कि देह का नाश हो जाता है। वे कहते है—

"मैं प्रतिक्षण अहिंसा की अमित शक्ति और मनुष्य की अल्पता को अधिकाधिक स्पष्टता से देखता हूँ। वन में रहने वाला, अपनी अपरिमित दया के बावजूद भी हिंसा से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्येक श्वास के साथ-साथ वह कुछ-न-कुछ हिंसा करता है। शरीर स्वयं हिंसा का घर

है। इस कारण मोक्ष और नित्य आनन्द शरीर मे पूर्ण मुक्ति पाने में ही है[२]।"

और

"मोक्ष की अनिवार्य शर्त सभी इच्छाओं का संपूर्ण नाश है। मुमुक्षु येन केन प्रकारेण अपने नश्वर शरीर को सुरक्षित नहीं रख सकता[३]।"

तथा

'केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिए तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नही रह जाती। सर्व-व्यापक आत्मा शरीर-रूपी पिंजड़े में कैसे बन्द रह सकता है? यह पिंजड़ा बनाए रखने का अनर्थ कैसे कर सकता है? दूसरे को कैसे मार सकता है? यों विचार करते हुए हम आत्यंतिक त्याग को पहुंच जाते हैं और शरीर को स्थिति-पर्यन्त उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते हैं और यहाँ तक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खूराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना, बैठना, जागना-ऊँघना, सब सेवा के लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतने वाला मनुष्य अंत मे सत्य की झाकी करेगा[४]।"

"जब तक शरीर है तब तक कोई पूर्णता को प्राप्त नही कर सकता है, क्योंकि यह आदर्श अवस्था तब तक असंभवित है जब तक कि अहंकार को जीत नहीं लिया जाता और जब तक मनुष्य पिंड के बन्धनों में जकड़ा है तब तक अहंकार से छुटकारा नहीं मिल सकता[५]।"

विदेहमुक्ति देहपात के अनन्तर ही होती है। पर यह सब जीवों को नही मिलती। ब्राह्मीस्थिति या स्थितप्रज्ञ की स्थिति मिल जाने पर आदमी मोह मे नहीं पड़ता और इस हालत में रहते हुए वह मर जाय, तो ब्रह्म-निर्वाण या मोक्ष पाता है[६]।"

इस प्रकार देह रहते स्थितप्रज्ञ की स्थिति ही संभव है। इसका गीता के दूसरे अध्याय मे सुन्दर वर्णन है और वह गान्धी की दैनिक प्रार्थना का अंश भी था।

गान्धी स्थितप्रज्ञ और भक्त में कोई अन्तर नहीं देखते। वे कहते हैं—

"राम के भक्त और गीता के स्थितप्रज्ञ में कोई भेद नहीं है। ज्यादा गहरे उतरे तो हम देखेंगे कि रामभक्त पंच महाभूतो का सेवक होगा। वह प्रकृति के कानून पर चलेगा। इसलिए उसे किसी तरह की बीमारी होगी ही नहीं। होगी भी तो वह उसे पंच महाव्रतों की मदद से अच्छा कर लेगा। किसी भी उपाय से भौतिक दुःख दूर कर लेना आत्मा का काम नहीं, शरीर का भले ही हो। इसलिए जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, जिनकी दृष्टि मे शरीर से अलग शरीरधारी आत्मा जैसा कोई तत्त्व नहीं, वे तो शरीर को टिकाए रखने के लिए सारी दुनिया मे भटकेंगे, लंका जायेंगे। इससे उल्टे जो यह मानता है कि आत्मा देह में रहते हुए भी देह मे अलग है, हमेशा स्थिर रहने वाला तत्त्व है, अनित्य शरीर मे बसता है, शरीर की संभाल तो रखता है, पर शरीर के जाने से घबराता नहीं, दुःखी नहीं होता और सहज ही उसे छोड़ देता है, वह देहधारी डाक्टर वैद्यो के पीछे नहीं भटकता। वह खुद अपना डाक्टर बन जाता है। सब काम करते हुए भी वह आत्मा का ख्याल रखता है। वह मूर्च्छा में से जागे हुए की तरह बर्ताव करता है।

ऐसा इन्सान हर सांस के साथ रामनाम जपता रहता है। वह सोता है, तो भी उसका राम जागता है। खाते-पीते कुछ भी काम करते हुए राम तो उसके साथ ही रहेगा[७]।"

यहाँ गान्धी ने अपने अनुसार स्थितप्रज्ञ या भक्त का लक्षण बताया। एक वाक्य मे सच्ची सर्वदा नाम-साधना करने वाला मनुष्य ही स्थितप्रज्ञ या भक्त होता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या गान्धी को यह स्थिति मिली थी ? वे स्वयं कहते है—"मैं स्वीकार करता हूँ कि इस स्थिति को पहुँचने की कोशिश करने पर भी मैं अभी उससे बहुत दूर हूँ। मैं अनुभव करता हूँ कि जब हमारे आसपास इतना तूफान (साम्प्रदायिक दंगे आदि) मचा हुआ है, तब उस स्थिति को प्राप्त करना कितना कठिन है[८]!"

इसे २२ जनवरी १९४७ को गान्धी ने कहा। इससे जाहिर होता है कि वे स्थितप्रज्ञ या भक्त नहीं हो पाये थे।

पर लगता है कि यह उनकी नम्रता का प्रकाशन है। वे स्वयं नम्रता पर बड़ा जोर देते थे और शून्यवत् रहने की प्रेरणा देते थे। उनके अनुसार

"मनुष्य जब तक स्वेच्छा से अपने को सबसे पीछे न रखे, सबसे छोटा न माने तब तक उसकी मुक्ति नहीं है। अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है और इस नम्रता के बिना मुक्ति किसी काल में नही है, यह अनुभव-सिद्ध बात है[९]।"

अतः इस नम्रता के प्रकाशन से सिद्ध होता है कि वे अत्यन्त नम्र थे और इस कारण स्थितप्रज्ञ हो सकते है। उनकी नम्रता की अभिव्यक्ति उन्हे स्थितप्रज्ञ होने में बाधा न डालकर सहायता ही करेगी।

पुनश्च हम देखते हैं कि गान्धी प्राकृतिक चिकित्सा पर जोर ही नहीं देते थे वरन् स्वय को, अपने परिवार वालो को तथा अपने साथियों को नीरोग भी करते थे। इस चिकित्सा के अतिरिक्त वे रामनाम को भी चिकित्सक समझते थे और कहते थे कि यही प्राकृतिक चिकित्सा का आधार है।

अपने सर्वदा रामनाम जप के विषय मे वे स्वयं कहते हैं :—

"वह अशरीरी सब के शरीर में भरा है। हम उसी को भजते हैं। मैं उसी राम का पुजारी हूँ। रावण की पूजा मैं कैसे कर सकता हू? चाहे आप मुझे मार डाले, आप मुझ पर थूके, मैं मरते दम तक राम-रहीम, कृष्ण-करीम कहता रहूँगा। और फिर उस वक्त भी जब मुझ पर हाथ चलाते रहोगे तो मैं आपको दोष न दूँगा। मैं ईश्वर से भी यह नही कहूँगा कि तू मेरे ऊपर यह क्या कर रहा है? मैं उसका भक्त हूँ। मै उसका किया स्वीकार कर लूँगा।....मेरी प्रार्थना जगत् को दिखलाने के लिए नही है। मेरी प्रार्थना मन की शान्ति के लिए है, दिल की सफाई के लिए है[१०]।"

और

"यह भी कहता हूँ कि पिछले तीन दिन प्रार्थना नही हुई, ऐसा कोई न माने। जब आप यहाँ आए, मै यहाँ आया और हम सब शान्त रहे तो वह प्रार्थना ही थी, क्योंकि हमारे दिलो मे प्रार्थना थी[११]।"

निःसन्देह कबीर के साथ गान्धी प्रतिदिन अपनी प्रार्थना में गाते थे[१२]—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन से जागे,
दिन दिन अधिक चली॥ १॥
जहँ जहँ डोलो सो परिकरमा,
जो कछु करौ सो सेवा।

जब सोवौं तब करौं दंडवत्,
पूजौं और न देवा ॥ २ ॥
कहौं सो नाम, सुनौं सो सुमिरन,
खावँ पिवौं सो पूजा ।
गिरह उजाड एक सम लेखौं,
भाव मिटावौ दूजा ॥ ३ ॥
आँख न मूंदो, कान न रूँधौं,
तनिक कष्ट नहिं धारौं ।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि,
सुन्दर रूप निहारौ ॥ ४ ॥
सबद निरन्तर से मन लागा,
मलिन बासना त्यागी ।
ऊठत बैठत कबहुं न छूटै,
ऐसी तारी लागी ॥ ५ ॥
कह कबीर यह उनमुनि रहनी,
सो परगट करि गाई ।
दुख सुख से कोई परे परमपद,
तेहि पद रहा समाई ॥ ६ ॥

कबीर यहाँ जिसे उन्मनी-स्थिति कहते है वही गान्धी की स्थितप्रज्ञस्थिति है। दोनो एक ही स्थिति हैं।

फिर जब गान्धी को मार डाला गया, तो उनके मुख से 'राम! राम!' निकला और उन्होंने यावत्प्राण कहा कि उनके मारने वाले को दण्ड न दिया जया।

इन कारणो से हम कह सकते हैं कि गान्धी स्थितप्रज्ञ थे। और चूंकि मृत्यु-काल में भी वे ऐसे बने रहे अतः उनको विदेहमुक्ति मिली, अवश्य मिली।

कुछ लोग यहाँ शका करेंगे कि स्थितप्रज्ञ का देह यदि स्वभावत: छूटता है, तब तो उसे विदेहमुक्ति अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति मिल सकती है और अन्यथा नहीं। गान्धी को तो गोली से मार डाला गया था। वे पूर्ण स्थितप्रज्ञ भी नहीं हुए थे। अतः वे कैसे ब्रह्मीभूत माने जा सकते हैं?

इसका उत्तर यह है कि परमात्मा अपने भक्त या स्थितप्रज्ञ की कड़ी-से-कड़ी परीक्षा लेता है। यह गान्धी तथा सभी संतों का सिद्धान्त है। गोली द्वारा मारा जाना गान्धी की स्थितप्रज्ञता या भक्ति की परीक्षा थी। उस स्थिति में भी वे भक्त बने रहे, अतः वे इस परीक्षा में अवश्य उत्तीर्ण हुए, यह समझने में कोई भूल नही जान पड़ती।

इस प्रकार यद्यपि गान्धी जीवन्मुक्ति को नहीं मानते हैं, तो भी वे विदेहमुक्ति को सच्चे रूप में मानते हैं और उन्होने इसको प्राप्त भी किया।

वे ईसा, मूसा, सुकरात, बुद्ध, कनफ्यूसियस, शंकर, आदि को भी सिर्फ स्थितप्रज्ञ या भक्त मानते है। हाँ, वे इनको अपने से बड़ा स्थितप्रज्ञ मानते हैं। इस प्रकार वे स्थितप्रज्ञता में क्रम मानते है जैसे कोई जीवन्मुक्ति में क्रम या तारतम्य माने। किन्तु विदेहमुक्ति में क्रम का प्रश्न ही नही उठता। स्थितप्रज्ञ की स्थिति को प्राप्त कर लेने पर वह सहज ही देहपात के अनन्तर मिल सकती है।

३ सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति

लगता है कि किसी समय गान्धी सद्योमुक्ति में विश्वास करते थे क्योंकि वे कहते हैं—

"यदि मेरी कोई प्रबल इच्छा है, तो वह सहज ईश्वर तक पहुँचना है, संभव हो तो एक ही छलांग में, और अपने को उसमें तल्लीन कर देना है[१३]।"

यहाँ वे सद्योमुक्ति को संभव मानते हैं और अपने लिए भी शक्य समझते है। पर बाद को उन्होंने इस मत को, कम से कम, अपने लिए अशक्य समझ लिया। उन्होंने मिसेज पोलक से कहा—"कभी मैं सोचता था कि इसी जन्म में मैं आवागमन के चक्र को समाप्त कर सकता हूँ। अब मैं जानता हूँ कि मै नहीं कर सकता और मुझे फिर जन्म लेना पड़ेगा। मै इससे बच नहीं सकता हूँ, किन्तु मै आशा करता हूँ कि मुझे अब एक ही बार फिर जन्म लेना पड़ेगा[१४]।"

इससे स्पष्ट है कि गान्धी क्रममुक्ति मे विश्वास करते थे और सद्योमुक्ति को नही मानते थे। वे जीवन्मुक्ति को भी नही मानते थे। जीवन्मुक्ति में कर्म करना, देह के रहते भी, संभव नहीं है। गान्धी को यह इष्ट न था। अतः उन्होने क्रममुक्ति के सिद्धान्त का ही समर्थन किया। इसका मतलब यह है

कि प्रयत्न करने से धीरज के साथ साधना करते रहने से क्रमशः मुक्ति की प्राप्ति संभव है।

गीता के निम्नलिखित श्लोक में इसको यों कहा गया है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्[१५] ।६॥

अर्थात

लगन से प्रयत्न करता हुआ योगी पाप से छूटकर अनेक जन्मों से विशुद्ध होता हुआ परम गति को पाता है।

क्रममुक्ति के मानने से गान्धी मानते हैं कि इस मनुष्य-लोक, मर्त्य लोक, के अतिरिक्त भी अन्य लोक हैं जैसे चन्द्रलोक आदि। धर्मक्षेत्र मनुष्यलोक ही है। यहाँ जो जैसा कर्म करता है उसे मरने के बाद वैसा ही लोक मिलता है। फिर, जब उसका पुण्य क्षीण होता है तो वह फिर मनुष्य-लोक में अपने कर्म के अनुसार जन्म लेता है। इस प्रकार यदि किसी पुरुष को मोक्ष मिलेगा, तो उसे मनुष्य लोक में ही धर्म-कर्म से, ज्ञान-वैराग्य से, मिलेगा। मोक्ष देने वाला मनुष्य-लोक ही है। इसीलिए कहा जाता है कि सुरगण भी मनुष्ययोनि में जन्म लेने को ललचाते है।

इन सभी लोकों को मिलाकर संसार या आवागमन का चक्र कहते हैं। इस चक्र में निःसन्देह मनुष्य-लोक का सर्वोत्तम महत्त्व है।

टिप्पणियां और सन्दर्भ

१ आत्मकथा, प्रस्तावना पृ० ५-६।
२ Hindu Dharma, पृ० १९५।
३ वही पृ० २३०।
४ धर्मनीति पृ० १४३-१४४।
५ Mahatma Gandhi, Roman Rolland, पृ० २३९।
६ गीतामाता पृ० १४, १३४ और ब्रह्मचर्य भाग दो, पृ० ६९।
७ ब्रह्मचर्य भाग दो, पृ० ६०।
८ वही पृ० ६९।
९ आत्मकथा, पृ० ६२३।
१० प्रार्थना प्रवचन भाग १, पृ० १३।

११ वही पृ० २३ ।
१२ आश्रम भजनावलि पृ० ९५-९६ ।
१३ Gandhi's View of Life, Chandra Shanker Shukla पृ० ६१ ।
१४ वही पृ० ६१ ।
१५ भगवद्‌गीता ६।४५ ।
१६ वही पृ० २६७-२६८ ।
१७ प्रार्थना प्रवचन भाग एक, पृ० २१ ।
१८ प्रार्थना प्रवचन भाग दो, पृ० २३७ ।
१९ Mahatma Gandhi, ed. S. Radhakrishnan, पृ० ६० ।
२० ब्रह्मचर्य भाग एक, पृ० १४१ ।

अध्याय ११

गान्धीकृत दर्शन-समन्वय

१ शाश्वत दर्शन का स्वर

गान्धी-दर्शन सभी दर्शनो का आधुनिक भारत की आवश्यकताओं के अनुकूल समन्वय है। अपने इस समन्वय के बारे में उन्होंने कहा—

"मूसा, बुद्ध, कनफ्यूशियस, सुकरात, अरस्तू, ईसा और उनके बाद हर देश मे हुए महान् धर्मोपदेष्टा और तत्त्वज्ञानी सबने अपने-अपने देश और काल में मनुष्य के आचार को परखने की कोई-न-कोई कसौटी पेश की। अतः सामान्य, सर्वोपयोगी नीतिशास्त्र दर्शन-शास्त्र, मानस शास्त्र, शरीर-शास्त्र और समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आश्रित होगा। ये सब मिलकर अनेक तथ्य या माने हुए तथ्य प्रस्तुत करते है जो स्वतः प्रमाण होते है। अत किसी भी युग या सभ्यता मे वैयक्तिक काम-नीति या संभोग-नीति के नियम उन्हीं तथ्यो के आधार पर बनेंगे जो लोगो के अपने अनुभव मे उनपर सबसे ज्यादा असर डालते है। सामाजिक कामनीति की तरह वैयक्तिक काम-नीति भी युग-युग मे भिन्न होती है। पर उसकी बाते स्थायी और अल्पाधिक सार्व-कालिक होती है[१]।"

यहाँ जो बात वैयक्तिक कामनीति के बारे में कही गयी है वही गान्धी के समग्र दर्शन के बारे में समझनी चाहिए। इसका अभिप्राय निम्नलिखित हुआ—

(१) प्रत्येक दर्शन मे स्थायी और अल्पाधिक सर्वकालिक तथ्य होते हैं।

(२) प्रत्येक दर्शन मे द्रष्टा, युग, देश और उसकी परिस्थिति के अनुकूल कतिपय तथ्य होते हैं जो अन्य दर्शनों में नहीं रहते और न रहना चाहिए।

(३) गान्धी ने प्रसिद्ध धर्म और दर्शनों के स्थायी और सार्वकालिक तथ्यों को लेकर अपने अनुसार तथा अपने देश-काल के अनुसार उनका प्रयोग किया। उन्होंने युगानुरूप धर्म और दर्शन का निर्माण किया।

अब हम गान्धीकृत इस समन्वय पर विचार करेंगे।

२ गान्धी और भारतीय धर्म-दर्शन

गान्धी अपने को सनातनी हिन्दू कहते थे। किन्तु बहुत-से लोग उनके इस दावे को गलत सिद्ध करते थे क्योंकि वे हिन्दू धर्म में कतिपय सुधार करते थे जैसे अस्पृश्यता-निवारण आदि। गान्धी के समय में जो प्रचलित हिन्दूधर्म था उसमें और गान्धी के हिन्दूधर्म में फर्क है। प्रचलित हिन्दूधर्म वेद, स्मृति, पुराण आदि के क्रमों में ऐतिहासिक तौर से पनपता चला आया है। गान्धी इस हिन्दूधर्म के मान्य ग्रन्थों के सिद्धान्तों को लेकर दार्शनिक तौर से समन्वित करते हैं। अतः हम गान्धी के हिन्दूधर्म को दार्शनिक हिन्दुत्व और प्रचलित हिन्दूधर्म को साधारण हिन्दुत्व कहेंगे।

१—गान्धी वेद और उपनिषद को अधिक महत्व देते थे। उनका यह दावा सही है कि वेदकालीन हिन्दुत्व में छुआछूत और जाँति-पाँति का विचार नहीं था। ये दुर्गुण कालान्तर में आये। ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में उन्हें दार्शनिक साम्यवाद दिखलायी पड़ता है। वे इसे हिन्दू धर्म का सर्वस्व समझते हैं। सभी भारतीय विचारधारा को, जैन और बौद्ध तथा सभी हिन्दू दर्शनों को वे वेदोपनिषद् से निकले हुए मानते हैं। प्रतिदिन वे अपनी प्रार्थना में उपनिषद् के वाक्यों का स्मरण करते हैं। उपनिषत्स्मरण करके वे बहुत-से सारगर्भित उपनिषद् वाक्यों को अक्षरशः मानते थे जो उनकी आश्रम भजनावलि में संगृहीत हैं। सभी विद्याएँ और सभी कर्म मुक्ति के लिए होने चाहिए—इस वेदवाद को भी वे मानते हैं।

२—मीमांसा के कर्ममार्ग को लेकर वे एक नया अर्थ देते हैं। यज्ञ को भी वे मानते हैं, पर इसका अर्थ परोपकारार्थ कर्म लेते हैं। वर्णाश्रम धर्म को भी वे मानते हैं पर उसको वे जाति-पाँति और छुआछूत से विमुक्त करते हैं क्योंकि यही वेदोपनिषद् की ध्वनि है। धर्मशास्त्रों को वे मानते हैं और कर्मणा जाति न मानकर जन्मना जाति भी मानते हैं। पर इसमें से वे ऊँच-नीच का भेद-भाव हटा देते हैं।

३—वेदान्त को वे भारतीय दर्शन की चूडामणि मानते हैं और कुमारिल की तरह कहते हैं कि आत्म-विचार जितना वेदान्त में है उतना अन्यत्र कहीं नहीं है, अतः आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदान्त का ही अध्ययन करना चाहिए। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में कहा है—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।
दृढत्वमेतद्विषयं प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ।।

अर्थात

भाष्यकार शबर ने नास्तिकवाद का निराकरण करते हुए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। इस विषय का और दृढीकरण वेदान्त के अनुशीलन से होता है। अर्थात् आत्मज्ञान का विषय वेदान्त है, कर्म-मीमांसा नहीं—यह कुमारिल की मान्यता है। जब गान्धी कहते हैं कि "निष्पक्ष रूप से विचार करने पर मुझे यह प्रतीति हुई कि हिन्दूधर्म में जैसे गूढ विचार हैं, आत्मा का जैसे निरीक्षण है, दया है, वैसे दूसरे धर्म में नहीं है[३]", तो उनका आत्मनिरीक्षण से अभिप्राय वेदान्त ही है।

(क) शंकराचार्य के अद्वैतवाद, सृष्टिविज्ञान के प्रति उदासीनता, अलीक, प्रातिभासिक सत्, व्यावहारिक सत् और परमार्थ सत् के सिद्धान्तों को वे मानते हैं। मायावाद को वे विवेकानन्द की तरह वस्तु-स्थिति मानते हैं। व्यष्टि और समष्टि की एकता* के सिद्धान्त को भी वे मानते हैं क्योंकि वे प्रायः कहते हैं कि जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। यदि यह सत्य है कि शंकराचार्य ने चाण्डाल को छूने से परहेज किया था, तो गान्धी इसे नहीं मानते। वे इसे अद्वैतवाद का विरोधी मानते हैं। शंकराचार्य के प्रातःस्मरण को वे प्रतिदिन दुहराते हैं और उनके द्वादश-पञ्जरिका स्तोत्र का भी स्तवन करते हैं।

(ख) रामानुज से वे विदेहमुक्ति का सिद्धान्त लेते हैं और जीवन्मुक्ति को असंभवित बताते हैं। वे आगे कहते हैं कि 'मैं रामानुज के आसन से ईश्वर की सृजन-शक्ति सिद्ध करता हूँ[४]।'

रामानुज तथा अन्य वैष्णव वेदान्तियों से गान्धी लीलावाद, प्रपत्तिमार्ग, पुष्टिमार्ग तथा वैष्णव धर्म को लेते हैं।

३—सांख्य से गान्धी प्रकृति और उसके परिणाम के सिद्धान्त को लेते हैं, कम से कम उसके स्वरूप के बोध के लिए। सांख्य के ज्ञानमार्ग को भी वे मुक्ति का द्वार मानते हैं, पर अपने लिए वे इसे अनावश्यक समझते हैं क्योंकि वे मीमांसा के कर्मवाद के असली रूप से अधिक प्रतिपन्न हैं। वे सांख्य के बहुपुरुषवाद को नहीं मानते क्योंकि वे अद्वैतवाद में प्रतिपन्न हैं।

४—योग से पतंजलि के योग से गान्धी अधिक प्रभावित हैं। योगसूत्र के प्रथम तीन सूत्रों को वे अक्षरशः मानते हैं जैसे वे वेदान्त के प्रथम चार सूत्रों

को मानते हैं। चित्त-वृत्ति का निरोध और इसकी सफलता-हेतु ईश्वराराधन, योग के इन दो सिद्धान्तों को वे मानते हैं। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमा अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य औरअपरिग्रह ये पाँच यम अर्थात् महाव्रत है जो अवश्य करणीय है—इस सिद्धान्त को वे अक्षरशः मानते हैं। वे योग की अष्टांग-साधना-पद्धति से भी लाभ उठाते हैं। योग को वे मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान का महाकोश मानते है।

पतञ्जलि के योग को राजयोग कहा जाता है। राजयोग और हठयोग दोनो मे सदाचार तथा शरीरगठन के सिद्धान्त है। पर हठयोग में शारीरिक शक्तियो को बढाने के विशेष उपाय है। गान्धी इनके प्रति उदासीन हैं। वे कहते है कि हठयोग के शिक्षक रह नहीं गये और उसकी साधना मे प्रायः हानि की सभावना है।

५—न्याय और वैशेषिक से गान्धी बहुत कम सहायता लेते हैं। पर वैशेषिक की धर्म-परिभाषा उनको मान्य है। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है वह धर्म है। फिर इसी को वे नीति भी कहते है क्योंकि नीति से भी अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है। इस प्रकार धर्म और नीति में गान्धी कोई भेद नहीं करते हैं। वैशेषिक के दैहिक वस्तुओं की पारस्परिक 'विशिष्टता' के सिद्धान्त को भी वे मानते हैं। वैशेषिक अणुवाद को वे आधुनिक वैज्ञानिक अणुवाद से समन्वित करते जान पड़ते हैं। न्याय स वे तर्क करने की शैली लेते है और उसके वितण्डावाद से अपने विपक्षियो के सिद्धान्त को काट देते है।

६—महाभारत और गीता से वे बहुत शिक्षा लेते हैं। गीता को तो वे अपना आध्यात्मिक कोश ही कहते है। महाभारत की अनेक शिक्षाओं को वे मानते हैं। महाभारत ने युद्ध की व्यर्थता सिद्ध कर दी है क्योंकि उसके वर्णित युद्ध के अनन्तर सिर्फ सात जन बचते हैं, और उनका भी शीघ्र अन्तकाल हो जाता है, मारे शोक के कारण—ऐसा गान्धी मानते हैं। महाभारत को वे प्रतिदिन दैवी वृत्ति और आसुरी वृत्ति के बीच चलने वाला द्वन्द्व-युद्ध मानते हैं। वे व्यास के निम्न वचनों को अक्षरशः सत्य मानते है—

(१) श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थात्

धर्म का यह रहस्य सुनो और सुनकर हृदय में धारण कर लो। जि
अपने लिए बुरा समझते हो, उसे दूसरों के लिए मत करो।

(२) परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्।

अर्थात्

दूसरों का भला करने से पुण्य होता है और बुरा करने से पाप होता है।

(३) धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।

अर्थात्

धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। इस कारण उस धर्म का पालन क्यों नहीं किया जाता ?

गीता को गान्धी तत्त्वज्ञान का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानते हैं[५]। वे इससे स्थितप्रज्ञ और अनासक्ति का सिद्धान्त विशेषतः लेते हैं।

७—**भागवत पुराण तथा अन्य पुराण**। भागवत पुराण से गान्धी ने भक्ति के तत्त्व को अधिक पहचाना। पुराणों के बारे में वे कहते हैं कि ये स्मृतियों के विकास-स्वरूप हैं और अपने युग की कृतियाँ हैं। इनमें सनातन सत्य का वर्णन कम है है[६]।

८—**सन्तसाहित्य**। सन्तसाहित्य से, विशेषतः हिन्दी और गुजराती के सतसाहित्य से गान्धी अपने सत्य के सिद्धान्त, सबद या शब्द, अन्तरात्मा की पुकार, नाम-साधना, रामनाम, सगुण-निर्गुण-समन्वय और उन्मनी अवस्था को लेते हैं। सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, रैदास, दादू, नानक, मीरा, नरसी मेहता, अखा आदि के भजन वे गाया और गवाया करते थे जो उनकी भजनावलि में संगृहीत होकर प्रकाशित हैं। इन्हीं संतों से, विशेषतः कबीर और नानक से, उनको राम-रहीम, कृष्ण-करीम की एकता के अपने सिद्धान्त का समर्थन मिला।

(९) बौद्ध-धर्म-दर्शन से गान्धी निम्नलिखित सिद्धान्तों को लेते हैं :—

(१) बुद्ध ने वेदों के कतिपय शब्दों का ऐसा अर्थ किया जो उस समय लोगों को मालूम न था। वे वेद के निष्णात ज्ञाता थे[७]।

सबसे पहले कुमारिल ने यह दिखलाया कि बुद्ध की शिक्षाओं का मूल स्रोत उपनिषद तथा वेद है और आज यह सिद्धान्त प्रायः सर्वमान्य हो चला है। इस आधार पर गान्धी ने बौद्धधर्म को हिन्दूधर्म का ही अंग बताया।

(२) महात्मा गान्धी के अनुसार बुद्ध निरीश्वरवादी नहीं थे। उन्होंने अपने समय की ईश्वर-विषयक प्रचलित धारणाओं का खण्डन किया, इस कारण वे निरीश्वरवादी कहे गये, पर वस्तुतः वे ईश्वर को सर्वव्यापी नियति के रूप मे मानते थे। वे विश्व की नैतिक शासन-व्यवस्था—ईश्वरत्व को मानते थे। उन्होंने विधि और विधाता दोनों को एक किया। इस प्रकार उन्होंने वैदिक 'ऋत' के अर्थ मे ईश्वरत्व को प्रतिष्ठित किया[८]।

(३) निर्वाण बिल्कुल अभाव नहीं है, यह सिर्फ बुराई मात्र का अभाव है। यह जीती-जागती शान्ति है[९]। निर्वाण शून्यता है, इसको मानते हुए भी गान्धी शून्यता का अर्थ शून्यवत्ता या नम्रता लगाते हैं।

(४) पर बौद्ध धर्म-दर्शन की सबसे बड़ी देन इसकी जीवमात्र के प्रति दया या करुणा है[१०]।

"बुद्ध की दया को देखिए, वह मनुष्य-जाति से भी आगे बढ़कर अन्य प्राणियों तक जा पहुँची थी। उनके कंधों पर खेलते हुए मेमने का चित्र आंखों के सामने आते ही क्या आपका हृदय प्रेम से परिपूर्ण नहीं हो जाता? यह प्राणी-मात्र का प्रेम मैं ईसा के चरित्र मे नही पाता"[११]।

गान्धी जापान के बौद्धों से कहते हैं कि "अगर बौद्ध धर्म जानना है तो आप उसके जन्म-स्थान भारत मे ही उसे पायेंगे। जहाँ पर वेद-धर्म से वह निकला है, वहीं आपको उसे खोजना है और शंकराचार्य—जैसे अद्वितीय विद्वान्, जो प्रच्छन्न-बौद्ध कहलाए, उनके ग्रन्थों को भी आप समझेंगे तब बौद्ध धर्म का गूढ रहस्य आप जानेंगे[१२]।"

यहाँ यह जानना कठिन न होगा कि गान्धी बौद्ध धर्म-दर्शन को वेद से निकला हुआ मानते हैं और फिर बौद्धधर्म-दर्शन की नयी शिक्षाओं को प्राचीन वेद-धर्म की शिक्षाओं के साथ समन्वित करने वाले शंकराचार्य को वे मानते हैं कि सही अर्थ मे वे प्रच्छन्न बौद्ध है। पर यहाँ 'प्रच्छन्न बौद्ध' यह शब्द तिरस्कारसूचक नहीं है जैसा कि पद्मपुराण मे कहा गया है। गान्धी प्रच्छन्न बौद्ध को आदरसूचक अर्थ मे प्रयुक्त करते है। अगर शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध न होते तो वे बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म के अन्दर न ला पाते। उनकी बदौलत बौद्ध धर्म-दर्शन हिन्दू धर्म के अन्दर सदा के लिए आ गया। बुद्ध ईश्वर के अवतार बन गये और उनकी भी पूजा हिन्दू धर्म में होने लगी।

१० – जैन धर्म-दर्शन से गान्धी ने निम्नलिखित सिद्धान्त लिये—

(१) अनेकान्तवाद। सत्ता अनेकधा है। उसमें अनन्त मूलगुण हैं। उसके अनन्त लक्षण हैं। अनन्तधर्मकं वस्तु। "मैं इस सिद्धान्त को बहुत अधिक पसन्द करता हूँ। इसी सिद्धान्त ने मुझे सिखाया कि मुसलमान को उसकी ही दृष्टि से—स्वमतेन—जाँचना चाहिए और ईसाई को उसके अपने मत से[१३]।"

(२) स्याद्वाद। जैन तर्क शास्त्र मे प्रत्येक निर्णय को नय कहते हैं। यह दुर्नय, नय या प्रमाण नय हो सकता है। दुर्नय सर्वथा गलत है और नय साधारणतः सही समझा जाता है पर तर्कतः गलत है और प्रमाण नय सर्वथा तर्कतः सही है। प्रमाण नय के अनुसार प्रत्येक निर्णय को स्यादपूर्वक कहना चाहिए। स्याद् का अर्थ है वह संकेत जो उन परिस्थितियो को बतलाता है जिनमें कि वह निर्णय तर्कत. सही है। गान्धी जब स्याद्वाद का प्रयोग करते है तो वे प्रमाण नय को न लेकर नय को ही लेते है। पर इसका अर्थ वे ठीक लगाते है कि प्रत्येक निर्णायक अपनी दृष्टि से सही है और दूसरों की दृष्टि से गलत; और इस प्रकार सभी अपनी-अपनी दृष्टियो मे सही हैं[१४]। इस सिद्धान्त ने गाँधी को लोगो को समझने में बड़ी मदद दी।

(३) सप्तभंगिनय। जैन दर्शन मे प्रमाण नय और नय तथा दुर्नय तीनों के सात-सात प्रकार हो सकते हैं। गान्धी सिर्फ प्रमाण नय वाले सप्त-भंगिनय का एक स्थान पर उल्लेख करते हैं। इसके अनुसार किसी वस्तु को अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य तथा अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य, इन सात दृष्टियों से देखा जा सकता है। तर्कतः ये सब दृष्टियाँ सिर्फ प्रमाण-नय वाले सप्तभंगिनय में ही ठीक है, नय वाले और दुर्नय वाले में नही।

गान्धी का उल्लेख यो है—

"सभी रचनाओ मे लेखक की दृष्टि अधिकतर एकांगी होती है। पर हर बात कम-से-कम सात दृष्टियो से देखी जा सकती है और उन-उन दृष्टियों से वह बात सच्ची होती है। पर सब दृष्टियाँ एक ही समय मे एक ही मौके पर सही नही हुआ करतीं[१५]।"

(४) जैनियो ने भी योग की तरह पाँच महाव्रतों पर जोर दिया और अहिंसा को तो अपने धर्म-दर्शन का केन्द्र ही बनाया। इस और यहाँ यह कहा जा सकता है कि गान्धी ने स्याद्वाद, अनेकान्तवाद और अहिंसा के जैन-दर्शनगत अर्थों को काफी व्यापक बनाया, न कि उनको घटाया या कम किया।

वे जैनधर्म-दर्शन को भी हिन्दूधर्म का अंग समझते थे।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों से गान्धी ने कुछ-न-कुछ लिया। उन सब मे उनको निम्नलिखित चार मतो के प्रति अद्भुत अविरोध मिला—

(१) उपर्युक्त सभी दर्शन मानते है कि दु:ख सत् है।

(२) वे इस दु:ख के कारण की खोज करते हैं।

(३) वे इस दु:ख के निरोध को संभव बताते है।

(४) और वे इस दु:ख-निरोध का उपाय या मार्ग भी बताते है।

बौद्ध धर्म मे इनको चार आर्य सत्य कहा जाता है। पर ये केवल बौद्ध धर्म की ही नहीं, वरन् उपर्युक्त सभी दर्शनो की सर्वमान्य शिक्षाएँ है।

भारतीय दर्शनों की अद्भुद् एकवाक्यता पर ही गान्धी ने विशेष ध्यान दिया। उन्होने उपर्युक्त दर्शनो से ऊपर निर्दिष्ट सिद्धान्तो को लेकर इसी मतैक्य को और विकसित किया। पर उनका समन्वय यहीं तक सीमित न था। उन्होंने ईसाई मत, इस्लाम और पारसी धर्म से भी कुछ लिया।

३ गान्धी और ईसाई मत

गान्धी अपने को हिन्दू कहते हैं और उन्होने बताया है कि आत्मज्ञान और भूतदया के क्षेत्र मे हिन्दू धर्म ईसाई धर्म से बढकर है। इसके अतिरिक्त उन्होने यह भी अनुभव किया कि ईसाई मत पाप के परिणाम से मुक्ति दिलाता है, पापवृत्ति से नही; जब कि हिन्दू धर्म पापवृत्ति से मुक्ति दिलाता है[१२], क्योंकि वह कर्म-फलत्याग की भावना से कर्म करने का विधान करता है जिससे पाप होता ही नही और वह कर्ता को पुण्यात्मा मानता है। इस कारण भी हिन्दूधर्म ईसाई धर्म से उनको श्रेष्ठ लगा। वे ईसा को सिद्ध पुरुष या ईश्वर न मान सके। वे उनको भक्त ही मानते थे। उनका विश्वास था कि जीवमात्र मे आत्मा है और वह एक है। ईसाई मत के अनुसार सिर्फ मनुष्यो मे ही आत्मा है। इन मतभेदो के फलस्वरूप गान्धी ईसाई न हो सके यद्यपि उनको ईसाई बनाने के कुचक्र किये गये।

इतना होते हुए भी उन्होने ईसाई मत से कुछ शिक्षा ली। ईसाइयो ने इन्हें ख्रिस्ती या ईसाई माना क्योंकि उन्हे इनके जीवन मे ईसा के चरित्र का क्रियान्वयन मिला, इनकी अहिंसा उन्हे ईसाई सन्तों की अहिंसा को याद कराती है, इनकी ऐच्छिक दीनता उन्हें सन्त फ्रांसिस का स्मरण कराती है। गान्धी

ईसाइयों के भजनों को भी अपनी 'भजनावलि' में शामिल करते थे। यह सब देखकर कुछ हिन्दुओं ने भी इन्हें प्रच्छन्न ईसाई कहा[१७]।

किन्तु गान्धी ने इसका जवाब यों दिया—

"प्रच्छन्न ईसाई का दोषारोपण नया नहीं है। यह निन्दा और स्तुति दोनों है। यह निन्दाजनक है क्योंकि इससे पता चलता है कि कुछ लोगों का विश्वास है कि मैं भीतर से कुछ दूसरा हो सकता हूँ, भीतर से इसलिए कि मैं वैसा बाहर से होने से डरता हूँ। दुनिया में कोई ताकत नहीं है जो मुझे ईसाई मत मानने से रोक सके, अगर इसकी सत्यता और आवश्यकता मुझे महसूस हो जाय। जहाँ भय है वहाँ धर्म नहीं है। यह दोषारोपण एक प्रकार की स्तुति है क्योंकि यह बताता है कि मैं ईसाई मत के सौन्दर्य को परखने में समर्थ हूँ। मैं इसे मानता हूँ। अगर मैं बाइबिल या कुरान का जो अर्थ करता हूँ उसके अनुसार मैं खिस्ती या मुसलमान कहा जाऊँ, तो मुझे ऐसा समझे जाने में कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि तब हिन्दू, खिस्ती और मुसलमान एकार्थक शब्द होंगे। मैं मानता हूँ कि परलोक में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई आदि का विभाजन नहीं है[१८]।"

फिर गान्धी यह न मान सके कि ईसाई मत से ही मुक्ति सम्भव है और यही एक संपूर्ण धर्म है। वे कहते थे कि प्रत्येक धर्म मानव-निर्मित है और इस कारण अपूर्ण है। इस कारण उन सबको, एक-दूसरे को एक-दूसरे से अनुपूरित करना चाहिए अर्थात् एक धर्म वाले को दूसरे धर्म के ग्रन्थों और शिक्षाओं को उसके अनुसार ही अभ्यास में लाने का प्रयास करना चाहिए।

इन कारणों से हम कह सकते हैं कि गान्धी निन्दनीय अर्थ में प्रच्छन्न ईसाई या खुले आम ईसाई न थे। वे हिन्दू थे। पर चूँकि उनका हिन्दुत्व दार्शनिक था, व्यापक था, सर्वसंग्राहक था, अतः इसमें ईसाई मत के भी सनातन सिद्धान्तों का समावेश था। पर यह ईसाई मत के कारण नहीं किन्तु उस सर्वसंग्राहक व्यापक धर्म की धर्मता के ही कारण सम्भव था।

४ गान्धी और इस्लाम

जैसे कुछ लोगों ने गान्धी को खुले आम या प्रच्छन्न ईसाई समझा, वैसे बहुत-से लोगों ने, हिन्दुओं ने भी, उन्हें मुस्लिम-परस्त कहा। उनके ऊपर दोषारोपण किया गया कि वे मुसलमानों का पक्ष लेते हैं और उन्हें तुष्ट करते हैं।

वे कुरान की कुछ आयतों की नियमित प्रार्थना करते थे। रघुपति राघव राजाराम, पतितपावन सीताराम—इस हरिकीर्तन पदावली मे उन्होंने 'ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम, सब को सन्मति दे भगवान्', इसको भी जोड़ा। वे सदा राम-रहीम और कृष्ण-करीम के रूप मे ही अपने आराध्य देव को भजते थे।

वे मानते थे कि "ओज अबिल्ला' मे सारी वे ही बातें है जो यजुर्वेद में है[१९]।" उन्होंने हिन्दू धर्म की समन्वयात्मक शक्ति को परखा और कहा कि 'अल्लोपनिषद्' बनाकर हिन्दू धर्म ने इसका सुन्दर परिचय दिया है।

वे कुरान शरीफ को सब अन्य धर्म ग्रन्थो की तरह अपूर्ण मानते थे। व इस बात से इतराज करते थे कि मुसलमान मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। मुसलमान स्वय मूर्तिपूजक है क्योंकि वे किताब, 'कुरान' को पूजते हैं— ऐसा गान्धी का विचार था। फिर वे मुहम्मद को ही अकेला या अन्तिम ईश्वरावतार या स्थितप्रज्ञ नही मानते है। इन सब कारणों से हम कह सकते है कि गान्धी मुस्लिम-परस्त नही थे। इन कारणो से तो कुछ अन्धे मुसलमानो ने, लीगियो ने, गान्धी को इस्लाम का दुश्मन तक कहा और उन्हे कट्टर या पुराणपन्थी हिन्दू ही माना।

पर सच बात यह है कि गान्धी ने कबीर की तरह हिन्दू और मुसलमान के धर्म में कतिपय दोष देखे और बहुत-कुछ अच्छाइयाँ पायी जो दोनो मे एकरूप है। इस कारण उन्होंने अपने को विशुद्ध दार्शनिक धर्म या नैतिक धर्म का ही अनुयायी बनाया। उनका धर्म मननात्मक या ध्यान-प्रधान था। उसका मूल मानवतावाद था, मानव का उत्कर्ष था।

उनका यह दावा ठीक था कि चूंकि मै सच्चा हिन्दू हूँ, इसलिए मैं सच्चा खिस्ती हूँ, सच्चा मुसलमान हूँ, सच्चा पारसी हूँ, सच्चा सिक्ख हूँ। वे यह भी कहते थे कि धर्म-परिवर्तन की आवश्यकता नही है। "धर्म-पलटा शब्द मेरे कोश मे नही है[२०]।" एक धर्म को सच्ची तरह मानने वाला अगर दूसरे धर्म को सच्ची तरह से समझे तो वह अनुभव करेगा कि वह उसे भी सच्ची तरह मानता है; क्योंकि सभी धर्मो की शिक्षा है प्रेम, सत्य और अहिंसा। इसीलिए गान्धी ने 'अहिंसा परमो धर्म', नहि सत्यात् परो धर्मः, नहि दयासदृश धर्मः' मे सब धर्मो का समन्वय किया और इकबाल की इस सुन्दर पक्ति की बड़ी प्रशंसा की कि 'मजहब नही सिखाता आपस मे वैर रखना'।

५ गान्धी तथा आधुनिक दर्शन

कुछ लोगों ने गान्धी को साम्यवादी भी कहा। किन्तु साम्यवादियों ने उनको साम्यवाद का विरोधी कहा। इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि समता, स्वतन्त्रता और विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं को गान्धी साम्यवादियों से कम नहीं मानते। वे साम्यवाद की हिंसक क्रान्ति के स्थान पर अहिंसक क्रान्ति और लोक-संघर्ष या वर्ग-संघर्ष के स्थान पर लोक-संग्रह या वर्ग संग्रह को मानते हैं और यदि ईश्वर को परम अर्थ के रूप में लिया जाय तो साम्यवाद से उसका विरोध वे नहीं पाते।

वर्तमान समाज-दर्शन और राजनीति-दर्शन से भी गान्धी ने बहुत कुछ शिक्षा ली। वे लोकतन्त्रवादी थे। कुछ लोग उनके इन्हीं सिद्धान्तों को ही महत्त्व देते हैं और कहते हैं कि गान्धी प्रच्छन्न धार्मिक थे और खुले आम राजनीतिज्ञ तथा सामाजिक दार्शनिक थे। पर यह भी एकांगी मूल्यांकन है और 'प्रच्छन्न' के निन्दनीय अर्थों में त्याज्य तथा प्रशंसनीय अर्थों में ग्राह्य है।

वर्तमान पाश्चात्य दर्शन की दो-तीन धाराओं के साथ गान्धी के दर्शन का बहुत मेल बैठता है यद्यपि गान्धी को इनसे प्रेरणा नहीं मिली थी। इनमें लोकबुद्धिवाद, अस्तित्ववाद, मूल्यमीमांसा और नव्य टामसवाद मुख्य हैं। जैसे नव्य टामसवादियों ने टामसवाद का पुनर्जागरण किया, वैसे गान्धी नव्य हिन्दुत्व के प्रवर्तक माने जाते हैं। बार्कर ने कहा है कि गान्धी संत टामस अक्विना की तरह विचारक और दार्शनिक हैं और अपनी समस्त कृतियों में उच्चकोटि के तर्क रखते हैं तथा विचार की सूक्ष्मताओं का अनुसरण करते हैं[२१]। अस्तित्ववाद के कतिपय दार्शनिकों की तरह, मार्सेल और यास्पर्स की तरह, गान्धी, सनातन दर्शन के सिद्धान्तों को मानते हैं और बुद्धि तथा अन्य मनः शक्तियों के समन्वय पर जोर देते हैं, खासतौर से हृदय या अन्तरात्मा की अनुभूति पर। दुःखानुभूतियों में वे अपने अस्तित्व को गंभीरतापूर्वक अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं। साम्यवादियों के विरोध में अस्तित्ववादियों का वैयक्तिक स्वतन्त्रेच्छा का समर्थन बहुत-कुछ गान्धीवादी लगता है। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की प्रतिरक्षा में गान्धी बीसवीं शताब्दी में बेजोड़ हैं। वाणी की स्वतन्त्रता तथा अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता उनके जीवन के मुख्य अंग थे।

पुनश्च इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक जी० ई० मूर की भाँति गान्धी लोकबुद्धि के दृष्टिकोणों को अधिक महत्त्व देते हैं और अपने को ग्रामवासी कहकर

यह सिद्ध करते हैं कि उन्हे ग्रामवासियों का दृष्टिकोण ही अधिक उचित जान पडता है। जब उनसे कोई गूढ दार्शनिक प्रश्न पूछता था तो वे कहते थे कि 'मैं तो एक ग्रामवासी जो जवाब देगा वही दे सकता हूँ'[२]"। पर यहाँ यह धारणा न बना लेनी चाहिए कि गान्धी सिर्फ ग्रामवासी की तरह ही सोचते-विचारते हैं। वास्तव मे मूर की भाँति उनमे भी लोकबुद्धि की विचारणाओ में प्रामाणिकता देखने की अधिक चिन्तन-शक्ति है और वे उनको स्वीकार करने में कुछ-न-कुछ तर्क रखते है।

पर गान्धी जिस विचार-धारा का सर्वाधिक समर्थन करते प्रतीत होते है वह है विज्ञानवादी मूल्यमीमासा जिसका समर्थन इस समय अरबन—जैसे अमेरिकन दार्शनिक कर रहे है। गान्धी भी सभी दर्शनो का समन्वय मूल्य-मीमांसा मे करते है—इसको हमने उनके बुनियादी तत्ववाद मे देख ही लिया है। उनका अध्यात्मवाद, आत्मवाद, वस्तुत. मूल्यमीमासात्मक है।

अब हम संक्षेप मे गान्धी के दर्शन का विकास-क्रम देखेगे।

६ गान्धी-दर्शन का विकास क्रम

धार्मिक दृष्टि मे देखने पर गान्धी ने साधारण हिन्दू के लौकिक-पारलौकिक विश्वासों मे अपना दर्शन आरभ किया और अन्त मे उसकी पराकाष्ठा आत्मवादी मूल्यमीमासा मे की। इस विकासक्रम मे निम्नलिखित छः सोपान विशेष उल्लेखयोग्य है —

(१) वैपुल्यवाद। गान्धी की आरंभिक दार्शनिक विचारधारा वैपुल्यवादी थी। इसके भी दो रूप हैं। पहले वह नितांत लोकबुद्धि वाली विचार-धारा थी और बाद मे वह जैनियों के अनेकान्तवाद की दार्शनिक विचार-सरणि बनी।

(क) लोकबुद्धिमय वैपुल्यवाद। इस आरभिक अवस्था मे गान्धी अनेक प्रकार की सत्ताओं में विश्वास करते थे। अनेक जीव, अनेक योनियाँ, अनेक देव, परमेश्वर, अनेक प्रकार के भौतिक पदार्थ, आदि उन सभी वस्तुओ मे उनका विश्वास था जिनमे एक साधारण, गैर-पढ़ा-लिखा, बिना ज्ञान वाला, हिन्दू करता है।

(ख) जैन वैपुल्यवाद। पर उनका लोकबुद्धिमय वैपुल्यवाद शीघ्र जैन वैपुल्यवाद में बदल गया। गान्धी को आरंभ में जैन दर्शन का ही शास्त्रीय ज्ञान हुआ। इसके दो कारण है। पहला यह कि उनके जन्मस्थान के आस-पास सदियों से जैन-विचार-धारा का बहुत प्रचार था। दूसरा यह है कि उनको श्रीमद्

रायचन्द्र भाई से बड़ी प्रेरणा मिली थी जो एक बहुत बड़े जैन विद्वान् थे। इन्हीं दो स्रोतों से उन्हें जैन वैपुल्यवाद का पता चला और उन्होंने जैन तत्त्ववाद मे विश्वास किया।

जैन वैपुल्यवाद लोकबुद्धिमय वैपुल्यवाद को कुछ दार्शनिक रूप देता है। इसके अनुसार द्रव्य तथा उसके गुण और पर्याय सत् है। द्रव्य अनेक है जिनमे अनेक जीव, काल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा पुद्गल—ये ६ द्रव्य है। इनमे अन्तिम ५ अजीव हैं।

(२) सांख्य द्वैतवाद। जिस समय गान्धी जैन वैपुल्यवाद को मान रहे थे उसी समय रायचंद भाई के कहने पर ही उन्होंने गीता का प्रगाढ अध्ययन शुरू किया। गीता का परिचय तो उनको इससे पहले एडविन आरनाल्ड के अंग्रेजी अनुवाद से भी हुआ था। पर उस समय गान्धी की दार्शनिक अवस्था लोकबुद्धिमय वैपुल्यवाद की ही थी, अत. उसका विशेष तात्त्विक प्रभाव उन पर नही पड़ा। गीता के इस अध्ययन से उन्हें सांख्य का परिचय हुआ।

जैन तत्त्वदर्शन मे द्रव्य का विभाजन जीव तथा अजीव मे देख कर और सांख्य मे भी तत्त्व का वर्गीकरण प्रकृति तथा पुरुष मे पाकर वे द्वैतवादी हो गये। फिर चूंकि सांख्य प्रकृति के ही परिणाम या विकास को अनेक तत्त्वो मे शास्त्रीय ढग मे दिखाता है अतः सभी प्राकृतिक तत्त्वो को प्रकृति से निकला हुआ मानने के लिए वे सांख्य के विकासवाद में प्रतिपन्न हुए।

इस तरह वे पुरुष और प्रकृति इन दो मूलभूत तत्त्वो को मानने लगे और अन्य सकल पदार्थों को प्राकृतिक या प्रकृति का विकार समझने लगे।

पर इस सांख्य द्वैतवाद मे कुछ कमियाँ उनको नजर आयी। उदाहरण के लिए, सांख्य अनेक पुरुष मानता है। गान्धी ने जैसे भौतिक वस्तुओं और पदार्थों को प्रकृति का परिणाम माना, वैसे उन्होंने नाना पुरुषो को जीव कहा और उन्हे एक आत्मा के ही अंश माने।

इस प्रकार आत्मा और प्रकृति, ये दो मूलभूत तत्त्व माने गये और फिर आत्मा के परिणाम को आत्मिक और प्रकृति के परिणाम को प्राकृतिक कहा गया। आत्मा और आत्मिक को हम एक तत्त्व कह सकते है ठीक वैसे ही जैसे प्रकृति और प्राकृतिक को एक तत्त्व कहते हैं।

यहीं गान्धी को सबसे पहले यह ज्ञात हुआ कि आत्मा को परमार्थ या

परम मूल्य होना चाहिए जिससे अनेक आत्मिकों या मूल्यों का संघटन हो सके ।

(३) सर्वेश्वरवाद । द्वैतवाद ने गान्धी के मन मे भीतर ही भीतर आत्मा और प्रकृति के सबन्ध की समस्या को उठा दिया । इस संबन्ध का समाधान उनको साख्य मे न मिला । मौलिक दो पदार्थों में उनको कुछ अन्तर न प्रतीत हुआ क्योकि वे दोनों सदा एकसाथ रहते है, सदा एकसाथ प्रत्येक परिणाम को विकसित करते है और अन्त में प्रत्येक परिणाम को अपने मे एक साथ लीन करते हैं । इस विचार ने उनको पढ़ाया कि आत्मा प्रकृति है और प्रकृति आत्मा है । फिर चूँकि वे आत्मा को परमात्मा या ईश्वर मानते थे अर्थात् उसको वे परम अर्थ या मूल्य समझते थे अतः उन्होने कहा कि ईश्वर प्रकृति है और प्रकृति ईश्वर है । इस प्रकार उनका सिद्धान्त सर्वेश्वरवाद हो चला क्योकि प्रकृति का अर्थ है वस्तुत जगत् की सारी चीजे और उनसे ही अब ईश्वर का अभेद हो गया । ईशावास्यमिदं सर्वं का ज्ञान, गान्धी की इसी अवस्था का सूचक है ।

(४) अद्वैतवाद-मायावाद । पर विचार करते पर गान्धी ने देखा कि वस्तुतः 'परमात्मा जगत् है' यह पूर्ण सत्य नही है । परमात्मा जगत् से परे भी है, यह उनको पता चला । 'नेति-नेति' का ज्ञान यही संकेत करता है । फलतः वे परमात्मा को परात्पर मानने लगे, पर उसकी अन्तर्यामिता को भुलाया नही । इससे प्रश्न बना ही रहा कि परमात्मा और जगत् या प्रकृति का क्यों संबन्ध है ? परमात्मा की सत्ता प्रकृति के बिना रहती है और प्रकृति या जगत् 'अश्वत्थ' है, अर्थात् कल तक टिकने वाला नही है, गीता के इस ज्ञान से तथा प्रचलित अद्वैतवाद के प्रभाव से गान्धी ने जगत् को माया समझा । माया का अर्थ पहले वे मिथ्या लगाते थे अर्थात् बिलकुल भ्रम और बाद में इसका सच्चा अर्थ व्यावहारिक सत्ता लगाने लगे थे यह बात उनके तत्त्ववाद मे स्पष्ट कर दी गयी है ।

(५) लीलावाद । 'माया' को व्यावहारिक सत्ता मानने पर और एकमात्र सत अद्वैत-आत्मा को ही मानने पर यह प्रश्न कुछ बना ही रहता है कि आत्मा और इस व्यावहारिक सत्ता का क्या सबंध है ? यह व्यावहारिक सत् पूर्णतया मिथ्या या भ्रम तो है नही । यद्यपि वह नित्य परिवर्तनशील है, तथापि शाश्वत तो है ही ।

अतः इस सबन्ध को जानने की इच्छाएँ तथा पूर्वगत दार्शनिक अवस्थाओं का समन्वय करने की भावना ने उन्हें 'लीलावाद' के पास पहुँचा दिया और वे मानने लगे कि जगत् परमात्मा की महज लीला या खेल है। इसका और कोई अर्थ नही है। चूँकि माया भी वस्तुस्थिति का निरूपण ही है और यह लीला भी वस्तु-स्थिति ही है, अतः मायावाद और लीलावाद दोनों एक हैं ? इस प्रकार गान्धी ने निष्कर्ष निकाला और इस ओर उन्हे उन भारतीय सन्तो से अधिक सहायता मिली जिन्होने निर्गुण और सगुण का समन्वय करके अद्वैत वेदान्त और वैष्णव वेदान्त के बीच चलने वाले झगडों को भारत मे सदा के लिए बन्द कर दिया या शान्त कर दिया।

(६) आत्माद्वैतवादी मूल्यमीमांसा। कई बार गान्धी से लोगों ने प्रश्न पूछा कि जगत् का परमात्मा के साथ क्या सच्चा सबन्ध है ? उन्होने उनको अपना उपर्युक्त समाधान बतलाया, पर देखा कि इससे लोगो को सन्तोष नही है। बुद्धि को इसमे सतोष नही भी हो सकता। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर देना भी अशक्य है। पर सबसे बड़े मार्के की बात यह है कि इसका उत्तर देने की आवश्यकता ही नही है। यह व्यर्थ का प्रश्न है। अत. इसका उत्तर तो और व्यर्थ होगा। इसलिए इसके विषय मे माथा-पच्ची करने की आवश्यकता नही है। मनुष्य का कार्य सिर्फ इतना है कि वह आत्माद्वैत को समझे और इसे परम अर्थ या मूल्य माने। इसका ईशन या शासन अर्थात् ईश्वरत्व वह जगत् पर, प्रकृति पर, देह पर स्थापित करे। यही मुख्य दर्शन है। इस कार्य मे पता चलता है कि अनेक गौण मूल्य है जो हमे इस मुख्य मूल्य की ओर ले चलते है। इन मूल्यो का आत्मा के साथ अभेद और अनिवारणीय सबन्ध है। आत्मा मे ही स्थित रहकर, स्वस्थ रहकर, प्रत्येक कार्य इसी परम मूल्य की दृष्टि मे करने से, व्यवहार की दृष्टि से करने से, व्यवहार की दृष्टि मे भी सफलता मिलती है और आन्तरिक शान्ति भी प्राप्त होती है। यही आन्तरिक शान्ति निःश्रेयस या मोक्ष है और व्यावहारिक सफलता अभ्युदय है। अतः नीति और धर्म दोनो का इसमे समन्वय हो जाता है।

इस प्रकार गान्धी के अनुभवो ने इस आत्माद्वैतवादी मूल्यमीमांसा को उनका मुख्य दर्शन बना दिया। इस ओर उनको वेदो, बुद्धवाणी, जैन ग्रन्थो, वेदान्त, सन्त साहित्य आदि से भी प्रेरणा मिली। उन्होंने महसूस किया कि भारत का सच्चा सनातनदर्शन यही है। जब से आर्यगण गंगा पर उतरे तब

से आज तक इसी विचार-धारा का बोलबाला है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो हम पाश्चात्य दर्शन के भी इसी समन्वय पर पहुँचते हैं और अरबन-जैसे दार्शनिकों के ग्रन्थों को पढ़ने वाले जानते हैं कि उन्होंने अपनी आत्मवादी मूल्यमीमांसा मे पाश्चात्य-दर्शन का ऐसा ही समन्वय किया है।

अंत मे यह जानना जरूरी है कि यही सर्वदा दर्शन रहेगा और भारत मे आज इसकी ही परम आवश्यकता है क्योंकि आज मूल्यों का मूल्यान्तरण या पुनर्मूल्यांकन भारत में विशेष रूप में हो रहा है। प्राचीन मूल्यों को अमूल्य घोषित किया जा रहा है और नवीन मूल्यों की अवतारणा की जा रही है। गान्धी ने कतिपय नवीन मूल्यों को दिया और दिखा दिया कि वस्तुतः सभी मूल्यों का प्राचीन काल मे आविष्कार हो गया था। हमें उन्ही का परस्पर मूल्यान्तरण या उनके मूल्यों का परिवर्तन-परिवर्धन करना चाहिए। इन सब प्रक्रियाओं मे सभी व्यक्तियों के अन्दर रहने वाले एक परम मूल्य या अर्थ को जिसे हम अर्थतामात्र कह सकते हैं, भुलाया नहीं जा सकता है। यही अर्थता सभी अर्थों या मूल्यों का ईशन अर्थात् नियन्त्रण या शासन करती है अत. उसको ईश्वर कहना नाजायज नहीं है। हम शब्दों का अर्थ भले ही बदल दे, पर सभी शब्द और अर्थ जिस एक वस्तु को अन्ततोगत्वा इंगित करते है, उसको हम बदल नहीं सकते है, हाँ उसको हम अपनी समझ के अनुसार, अपने देश के अनुसार, नया अर्थ दे सकते है और देना भी चाहिए।

इस अर्थ मे इसलिए गान्धी कहते हैं "शरीर छूटता है, आत्मा थोड़े छूटता है। आत्मा की गति बढ़ती ही रहती है[२३]।"

यह आत्माद्वैतवादी मूल्यमीमांसा सनातन दर्शन है और अखंडनीय है। इस-। वर्णन हम इकबाल की 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा इस कविता मे कतिपय शब्दों को बदल कर अच्छी तरह कर सकते हैं। वह वर्णन यों होगा—

सारे जहाँ से अच्छा आतमनगर हमारा।
हम बुलबुले हैं उसकी वह बोस्ताँ हमारा॥
गुरबत मे हों अगर हम, रहता है दिल वतन मे।
समझो वहीं हमे भी, दिल हो जहाँ हमारा॥
आदर्श वह सबसे ऊँचा, हम साया आसमाँ का।
वह संतरी हमारा वह पासबाँ हमारा॥

•

गोदी मे खेलते हैं जिसकी हजारो रसिया ।
गुलशन है जिनके दम से, रश्के जिनाँ हमारा ।।

ऐ आबे रूदे गंगा, वह दिन है याद तुझको,
उतरा तेरे किनारे, जब कारवाँ हमारा ।।

दर्शन नही सिखाता आपस मे बैर रखना,
द्रष्टा हैं हम, वतन है आतमनगर हमारा ।।

यूनानो, मिस्र, रूमा, सब मिट गए जहाँ से ।
अब तक मगर है बाक़ी, नामोनिशाँ हमारा ।।

कुछ बात है कि हस्ती, मिटती नही हमारी ।
सदियो रहा है दुश्मन, दौरे जहाँ हमारा ।।

इकबाल कोई महरम, अपना नही जहाँ में ।
मालूम क्या किसी को, दर्दे निहाँ हमारा ।।

इकबाल की कविता में 'आतमनगर' के स्थान पर 'हिन्दोस्ताँ', आदर्श' के स्थान पर 'परबत', दर्शन' के स्थान पर 'मजहब', 'द्रष्टा' के स्थान पर 'हिन्दी' और 'गोदी मे खेलते है जिसकी हजारो रसिया' के स्थान पर 'गोदी में खेलती हैं, जिसकी हजारों नदियाँ' ये शब्द या पदावली है ।

हमारा विचार है कि इकबाल की कविता का यह रूपान्तरण उसके मूल-स्वरूप से भी अधिक सत्य है । लगता है कि याज्ञवल्क्य, बुद्ध, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, तथा सभी भारतीय सन्त और दार्शनिक इस कविता को गा रहे हैं । जब से गगा के तट पर हमारा आत्म-ज्ञान जगा था, तब से लेकर आज तक हजारो 'रसिया' या द्रष्टा गण इसमे खेल चुके हैं और आज भी खेल रहे है- जिनके दम से हमारा आत्मज्ञान सदा फूलता फलता रहता है । दर्शन-सम्प्रदाय इस आत्मज्ञान को काट नहीं सकते है, वे बहुत करेंगे तो इसका कुछ अर्थ दूसरा तीसरा लगायेंगे । कुछ ऐसी बात है कि इस आत्मज्ञान का अस्तित्व मिटता नही है, यद्यपि इसके दुश्मन सदियों से इस पर आक्रमण करते आये है । यह वह नगर है जो अपने-दुश्मनो को भी अपना नागरिक बना लेता है । यूनान, मिस्र और रोम की संस्कृतियों के सूचक दर्शन आज नही रह गये, पर हमारा यह दर्शन सदियों की बौछारो से भी बचता रहा है । आत्म-ज्ञान का दर्शन अमर और अकाट्य है ।

टिप्पणियां और सन्दर्भ

१ अनीति की राह पर, पृ० १६०-१६१ ।
२ Hindu Dharma, पृ० ४७ ।
३ आत्मकथा पृ० १७२ ।
४ Hindu Dharma, पृ० ६३ ।
५ आत्मकथा, पृ० ८६ ।
६ Hindu Dharma, पृ० ३४२-३४३ ।
७ वही पृ० २७० ।
८ वही पृ० २७१-२७२ ।
९ वही पृ० २७२ ।
१० वही पृ० २७२ ।
११ आत्मकथा, पृ० २०१ ।
१२ मेरे समकालीन, पृ० ८६-८७ ।
१३ Hindu Dharma, पृ० ६२ ।
१४ वही पृ० ६२ ।
१५ आत्मकथा, पृ० ३३७ ।
१६ वही पृ० १५६ ।
१७ Hindu Dharma, पृ० १८७ ।
१८ वही पृ० २६७-२६८ ।
१९ प्रार्थना प्रवचन भाग १ पृ० ६१ ।
२० प्रार्थना प्रवचन भाग २ पृ० २३७ ।
२१ Mahatma Gandhi, ed, S. Radhakrishnan. पृ० ६० ।
२२ ब्रह्मचर्य भाग १ पृ० १४१ ।
२३ प्रार्थना प्रवचन भाग २ पृ० १९ ।

सहायक पुस्तकें

(क) महात्मा गान्धी की रचित पुस्तकें

१. प्रार्थना-प्रवचन, भाग १,२ सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली १९५१ ।

२ गीता-माता, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१ ।

[इसमें गीता-बोध, अनासक्तियोग, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (मूल), गीता-प्रवेशिका, गीता-पदार्थ-कोष और गीता-माता—ये पुस्तके संगृहीत हैं]

३. पन्द्रह अगस्त के बाद, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१ ।

४. धर्मनीति, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१ ।

[इसमे नीति-धर्म, सर्वोदय, मंगलप्रभात और आश्रमवासियो से—ये चार पुस्तके संगृहीत हैं ।]

५. दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१ ।

६. मेरे समकालीन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१

७. आत्मकथा, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१

८. अनीति की राह पर, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१

९ ब्रह्मचर्य भाग १ और भाग २ सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९५१

१० Hindu Dharma, नवजीवन पबलिशिंग हाउस, अहमदाबाद ।

११. Ramanama नवजीवन पबलिशिंग हाउस, अहमदाबाद ।

१२. For the Pacifists. नवजीवन पबलिशिंग हाउस, अहमदाबाद ।

१३. Hind Swaraj नवजीवन पबलिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९४० ।

१४. Constructive Programme, नवजीवन पबलिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९४१ ।

(ख) अन्य की लिखी पुस्तकें

१५. आश्रम भजनावलि : नवजीवन पबलिशिंग हाउस, अहमदाबाद ।

१६. गोरा An Atheist with Gandhi नवजीवन पबलिशिंग हाउस

ख पुस्तकें

१७ किशोरलाल मशरूवाला Practical Nonviolence नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद।

१८ रिचर्ड ग्रेग . A Discipline for Nonviolence, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद।

१९ रिचर्ड ग्रेग The Power of Non-Violence, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद।

२० महादेव देसाई . The Gita According to Gandhi नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद।

२१ रोमें रोलां Mahatma Gandhi एस० गणेशन, मद्रास।

२२ विश्वभारती पत्रिका गान्धी मेमोरियल पीस अंक, शान्ति निकेतन।

२३ डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन द्वारा संपादित Mahatma Gandhi, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन।

२४ डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन् Contemporary Indian Philosophy जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन।

२५ डा० पी० टी० राजू Idealistic Thought of India, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन।

२६ डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त · The Philosophy of Mahatma Gandhi.

२७ लुई फिशर · The Life of Mahatma Gandhi

२८. रोनाल्ड डुन्कन : Selected Writings of Mahatma Gandhi

२९. सी० एफ० एण्ड्रूज द्वारा संपादित : Mahatma Gandhi's Ideas, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन।

३०. चन्द्रशंकर शुक्ल, Gandhi's View of Life, भारतीय विद्याभवन, बम्बई।

३१. गान्धीवाद : समाजवाद, हिन्दी प्रकाशन मंदिर, प्रयाग।

३२ विनोबा भावे गीता-प्रवचन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

३३ विनोबा भावे : स्थितप्रज्ञ-दर्शन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

३४ विनोबा भावे : ईशावास्यवृत्ति, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

४५. विनोबा भावे : सर्वोदय-विचार, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

३६ वियोगी हरि, संपादित, विनोबा के विचार, दो भाग सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।

३७ गोस्वामी तुलसीदास : रामचरित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर।

३८ वियोगी हरि संपादित : संतसुधासार, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।
३९ परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत-परम्परा, भारती भण्डार, प्रयाग।
४० श्रीमन्नारायण अग्रवाल : The Gandhian Plan, पद्मा पब्लिकेशन्स बम्बई, १९४४
४१ आचार्य जे० बी० कृपलानी : The Gandhian Way, वोरा एण्ड को०, बम्बई।
४२ हेनरी टामस तथा डी० एल० टामस : Living Biographies of Religious Leaders धर्म ज्याइन्ट्स न्यूयार्क।
४३ संगमलाल पाण्डेय : नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल बुकडिपो, इलाहाबाद।
४४ संगमलाल पाण्डेय : Whither Indian Philosophy, Darshan Peeth, 177 Tagore Town, Allahabad १९७९.
४५ सुशीला नय्यर : बापू की कारावास कहानी, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।
४६ पट्टाभि सीतारमैय्या : Gandhi and Gandhism, किताबिस्तान, इलाहाबाद।
४७ डा० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे : The Conception of Spiritual Life in Mahatma Gandhi and Hindi Saints, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद।
४८ एम० एस० पटेल, The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९५३।
४९. जान रस्किन, Unto this Last, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन।
५० काउण्ट लियो टालस्टाय, The Kingdom of God is Within You and Peace Essays, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, आक्सफोर्ड।
५१ डा० भगवानदास, The Philosophy of Non-Cooperation, टैगोर एण्ड को०, मद्रास।

विषयानुक्रमणिका